अघमर्षणरहस्य

लेखक और प्रकाशक

श्रीयुत पं॰ रामदुलारेलाल चतुर्वेदी

एम॰ ए॰, एल-एल॰ बी॰, वकील हाईकोर्ट

और

उपप्रधान आ॰ स॰ फ़र्रुख़ाबाद

तथा

श्रीमती आर्य्यप्रतिनिधि सभा

संयुक्त-प्रान्त आगरा व अवध

फतेहगढ़

मुद्रक

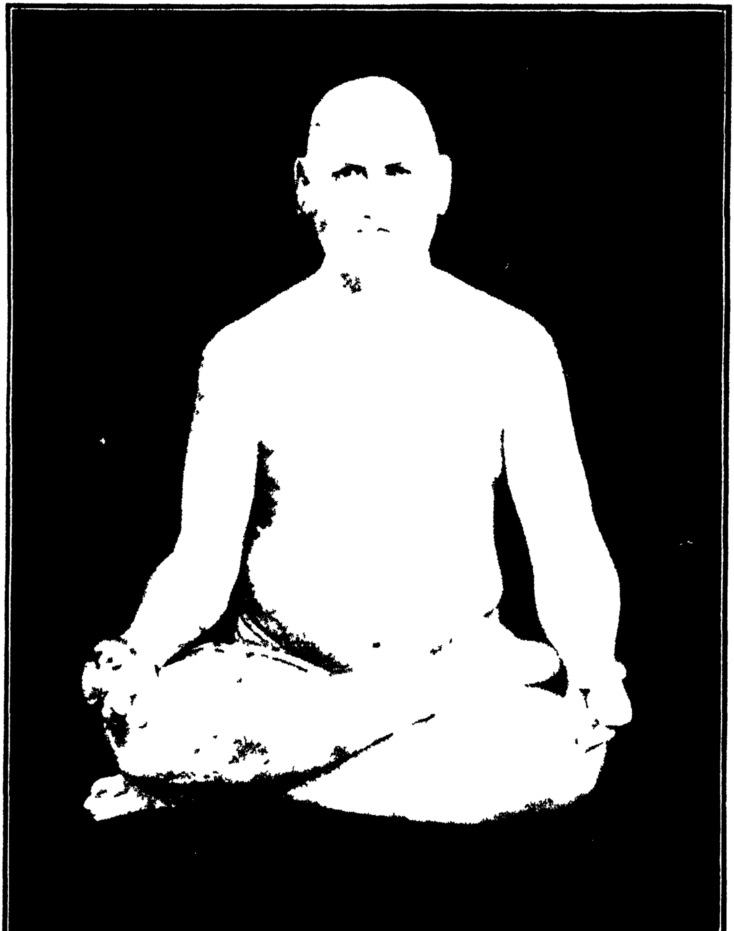
इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

प्रथम बार
१००० प्रति

सं॰ १९८१ वि॰

मूल्य १)

ओ३म्



श्री १०८ श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती ।

भूमिका।

वर्तमान समय में पारमार्थिक विषयों और कर्तव्यों की ओर जो उदासीनता दिखलाई देती है उसका मुख्य कारण तो राग-द्वेष-प्रवृत्ति अर्थात् सांसारिक विषयों में अति अनुराग है। प्रकृतिदेवी की उपासना में हम ऐसे संलग्न हो रहे हैं कि उस मंगलमूल महादेव को भुला बैठे हैं। परन्तु इस उदासीनता का एक विशेष कारण यह भी बतलाया जाता है कि नवीन शिक्षोन्नति के समय में मानवी बुद्धि विशेषरूप से तार्किक हो रही है और जो बात कि तर्क-बुद्धि के अनुसन्धान पर ठीक नहीं उतरती उसका ग्रहण करना रुचिकारक नहीं हो सकता; केवल शब्दप्रमाण अथवा विश्वास के आश्रय पर किसी वस्तु में श्रद्धा उत्पन्न होना इस नवीन प्रकाश के समय में अति दुस्तर है। जब कि ईश्वर केवल साक्षीमात्र कर्मों का फल-दाता है तो हम जैसा करेंगे वैसा फल पावेंगे इसलिए सन्ध्योपासन, नित्यकर्म निष्प्रयोजन है इस प्रकार की शंकायें प्रायः लोग किया करते हैं। सन्ध्योपासन के अंग अघमर्षण के विषय में और भी विशेष विशेष तर्कनायें की जाती हैं कि मन्त्रों के जपने से पापों की निवृत्ति होना बुद्धि में नहीं आता और जो लोग यह मानते भी हैं कि सन्ध्योपासन कर्तव्य कर्म है वे यह शंका किया करते हैं कि श्री १०८ श्रीस्वामी दयानन्द-कृत पञ्च-

महायज्ञविधि में जो ऋग्वेद के तीन मन्त्र अघमर्षणशीर्षक में दिये हैं उनका पापनिवृत्ति से कुछ सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता— यही कारण है कि एक नवीन सन्ध्योपासन पुस्तक में उपरोक्त मन्त्रों के स्थान में अन्य वेदमन्त्र अघमर्षणशीर्षक के नीचे दिये हुए हैं। उपरोक्त तथा इसी प्रकार की कई अन्य बातों से यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि इस विषय में कुछ विशेष विचार किया जावे कि अघ क्या है और उससे निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है तथा उपरोक्त अघमर्षण के मन्त्रों की इस विषय में क्या उपयोगिता है।

मैं ज्यों ज्यों इस विषय पर मनन करता गया मुझे यह विश्वास बढ़ता गया कि ये मन्त्र अघमर्षण सम्बन्ध में अत्युपयोगी और बड़े रहस्यपूर्वक हैं। उनके महत्त्व और गूढ़ाशय का मनुष्य पर ज्यों ज्यों प्रकाश होता जायगा उससे पाप ऐसे भागते जावेंगे जैसे सूर्य्य के प्रकाश से तम भागता है।

यद्यपि वेदमन्त्र अनेकार्थवाची होते हैं परन्तु इस पुस्तक में अघमर्षण के मन्त्रों का अर्थ सृष्टि-रचना-परक लिया गया है। प्रथम मन्त्र के पूर्व भाग में निमित्त कारण परमात्मा व उपादान कारण प्रकृति का वर्णन आया उसके उत्तर भाग तथा द्वितीय मन्त्र में सृष्टिरचनाक्रम दिखला कर यह बतलाया कि सर्व जगत् उसी परमात्मा के शासनाधीन है। फिर तीसरे मन्त्र में यह बोध कराया है कि सृष्टि की रचना प्रवाह से अनादि है और इस संसार में कोई भी वस्तु उसकी ज्योतनी से बाहर नहीं।

संक्षिप्त रूप में यह भी दिखलाया गया है कि अघ क्या है और उससे छुटकारा पाने के कौन कौन मार्ग हैं। हमारा अनुभव यह बतलाता है कि पापनिवृत्ति के तीन हेतु हुआ करते हैं। प्रथम ज्ञान द्वितीय कामना और तृतीय भय। इनका कुछ विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है विषय सम्बन्ध से क्षमा के मन्तव्य पर भी एक दृष्टि डालते हुए इस पर विचार किया गया है कि ईश्वरीय व्यवस्थानुसार मनुष्य पाप करके उसके दंड से बच नहीं सकता। प्रसंगवश ईश्वर, जीव, प्रकृति इनके स्वरूप व सम्बन्ध पर कुछ प्रकाश डालते हुए इनके सम्बन्ध में जो कई एक मुख्य मुख्य मत हैं उनकी कुछ तुलना भी की गई है।

अन्त में पापाचरण से बचने तथा मोक्ष प्राप्त करने में अघमर्षण के मन्त्र किस प्रकार सहायक हो सकते हैं। इस रहस्य को दिखला कर स्वयं वेद भगवान् के प्रमाण से यह सिद्ध किया गया है कि वास्तव में ये अघमर्षण के मन्त्र हैं; इस विषय में जो शंकायें की जाती हैं वे निर्मूल और भ्रम-युक्त हैं।

यथा सम्भव संस्कृत अथवा अन्य भाषाओं के क्लिष्ट दार्शनिक शब्दों तथा विषयों का प्रयोग कम किया गया है। उन स्थानों के अतिरिक्त कि जहां ऐसा करना अति आवश्यक प्रतीत हुआ कहीं कहीं अँग्रेज़ी-भाषा के शब्दों का प्रयोग किया गया है और उसी भाषा के विद्वानों के प्रमाण ज्यों के

त्यों उद्धृत किये गये परन्तु यह विशेष अँग्रेज़ी के विद्वानों की सुगमता और उनके लिए ग्रन्थ को रोचक बनाने के लिए किया गया—किन्तु अँग्रेज़ी न जाननेवालों के लिये इसमें कोई अड़-चन ग्रंथ के यथार्थ समझने में नहीं है क्योंकि अँग्रेज़ी के शब्दों तथा वाक्यों का अर्थ व भावार्थ भी पुस्तक की भाषा में पूर्णतया आगया है।

इस पुस्तक के रचने में मुझे एक बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा है। इसको सर्वसाधारण के उपयोगी बनाने के विचार से दार्शनिक सिद्धान्तों को साधारण रूप देना पड़ा और यथासम्भव उनके क्लिष्ट और गूढ़ रहस्यों को दार्शनिक भाषा में न वर्णन करते हुए उनको संक्षेप भी करना पड़ा। कई स्थानों पर प्राचीन तथा अर्वाचीन दार्शनिक सिद्धान्तों और मन्तव्यों को तुलनात्मकरूप से वर्णन करना उपयोगी होता परन्तु ग्रन्थ के क्लिष्ट और दीर्घ हो जाने के भय से उसको छोड़ देना पड़ा। सर्व-साधारण से मेरा यह निवेदन है कि विषय स्वयं ही दार्शनिक है और उसमें वर्णित रहस्य अति गूढ़ हैं इसलिए जो कई स्थानों पर दार्शनिक और वैज्ञानिक बातों का वर्णन करना पड़ा और उनके रहस्यों को दिखलाना पड़ा यह अनिवार्य था।

उदाहरणार्थ जहाँ पाश्चात्य सायन्स के अनुसार प्रकृति (matter) परमाणु (atoms) विद्युत्कण (electrons) शक्ति (energy) तथा ईथर (ether) का वर्णन आया है वहाँ इस

विवाद को नहीं छेड़ा गया कि—पदार्थविद्या (science) उपरोक्त बातों की कल्पना-मात्र कर लेती है उनके यथार्थ रूप, गुण इत्यादि के वर्णन में असमर्थ है और इसलिए किन्हीं किन्हीं पाश्चात्य विद्वानों का यह आक्षेप, कि ब्रह्मविद्या केवल कल्पना के सहारे पर है (mere theoretical) और सायन्स अन्वेषण और अनुसन्धान (experiment and observation) की अटल शिला के आधार पर खड़ा हुआ है, निर्मूल है। कुछ दूर चलकर दोनों को ही अनुमान और कल्पना का सहारा लेना पड़ता है।

पं० गणेशप्रसादजी मन्त्री आर्यसमाज फ़र्रुखाबाद तथा सम्पादक भारत-सुदशा-प्रवर्तक (यह सब से पुराना आर्य-समाज का पत्र था और इसका नामकरण श्री १०८ श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी महाराज ने स्वयं किया था) ने इस पुस्तक की पाण्डुलिपि के शोधने तथा अन्य कई विषयों में कृपा करके बहुत कुछ सहायता दी उनका मैं बड़ा ही कृतज्ञ हूँ। श्रीमान हंसराजजी गुप्त, बी० ए० ने भी इस पुस्तक की पाण्डुलिपि के शोधने में बहुत सहायता दी है अतः उनका भी मैं कृतज्ञ हूँ।

फ़तेहगढ़
१४ मार्गशीर्ष १९८१

रामदुलारेलाल

अनुक्रमणिका ।

अघमर्षण रहस्य

—:*:—

स्तुति

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
(यजु० ३१ म० १८)

व्याख्या—सहस्र शीर्षादि विशेषणोक्त पुरुष सर्वत्र परिपूर्ण है (पूर्णत्वात्पुरिशयनाद्वा पुरुष इति निरुक्तोक्तिः)। उस पुरुष को मैं जानता हूँ, अर्थात् सब मनुष्यों को उचित है कि उस परमात्मा को अवश्य जानें, उसको कभी न भूलें, अन्य किसी को ईश्वर न जानें। वह कैसा है कि 'महान्तम्' बड़ों से भी बड़ा उससे बड़ा वा तुल्य कोई नहीं है, "आदित्य-वर्णम्" आदित्यादि का रचक और प्रकाशक वही एक परमात्मा है तथा वह सदा स्वप्रकाश स्वरूप ही है किं च 'तमसः परस्तात्' तम जो अन्धकार अविद्यादि दोष उससे रहित ही है तथा स्वभक्त धर्मात्मा सत्य प्रेमीजनों को भी अविद्यादि दोष रहित सद्यः करनेवाला वही परमात्मा है। विद्वानों का ऐसा

निश्चय है कि परब्रह्म के ज्ञान और उसकी कृपा के बिना कोई जीव कभी सुखी नहीं होता। 'तमेव विदित्वेत्यादि' उस परमात्मा को जानकर जीव मृत्यु को उल्लङ्घन कर सकता है अन्यथा नहीं; क्योंकि 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' बिना परमेश्वर की भक्ति और उसके ज्ञान के मुक्ति का मार्ग कोई नहीं है। ऐसी परमात्मा की दृढ़ आज्ञा है। सब मनुष्यों को इसमें वर्तना चाहिए और सब पाखण्ड और जंजाल अवश्य छोड़ देना चाहिए।

भावार्थः—'वेदाहमेतम्' 'मैं जानता हूँ उसको, यह वेद-मन्त्र उपदेश देता है कि मनुष्य मात्र का आदर्श यह होना चाहिए कि मैं उसको जानता हूँ अर्थात् मनुष्य को नास्तिक वा संदिग्धवादी (Sceptic) वा शून्यवादी इत्यादि होकर निराश न होना चाहिए। आगे चलकर 'उस' सर्वनाम की व्याख्या की है कि 'उस' से प्रयोजन उस महान् पुरुष से है। महान् बड़े महत्त्व का शब्द है। महान् अर्थात् सबसे बड़ा, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वाधार इत्यादि पुरुष के गुणों का सूचक है। फिर वह पुरुष कैसा है 'आदित्य वर्ण है' अर्थात् ज्ञान रूपी तेज का पुञ्ज है कि जिसको ज्ञान-स्वरूप भी कहते हैं। "आदित्य वर्ण" यह उस पुरुष के सर्वाधार होने का सूचक भी है। जिस तरह पर कि इस संसार में भौतिक आदित्य अर्थात् सूर्य्य की आकर्षण-शक्ति से पृथिव्यादि लोक अपनी नियमित गति पर स्थिर हैं और उनका आधार सूर्य्य है, इसी

प्रकार सूर्य्य का आधार भी कुछ मानना आवश्यक होगा; इसी प्रकार उत्तरोत्तर मानते-मानते अन्त में किसी निराधार के आधार पर इन सबका स्थित होना मानना पड़ेगा। और कोई भी प्राकृतिक वस्तु निराधार नहीं हो सकती, इसलिए सूर्य्यों का भी सूर्य्य अर्थात् सर्वाधार उसी एक ईश्वर को मानना पड़ता है। भौतिक सूर्य्य संसार को प्रकाश देनेवाला है परन्तु ईश्वर प्रकाश का भी प्रकाशक है; क्योंकि प्रकाश विविध वस्तुओं के मेल, संयोग-वियोग (chemical action) से उत्पन्न होता है। और यह प्राकृतिक नियम तथा पदार्थ उसी के रचे हैं—इसलिए आदित्य वर्ण है। आदित्य वर्ण से उस पुरुष के सृष्टिकर्त्ता के भी अर्थ निकलते हैं—किस लिए कि पृथिव्यादि लोकों में भौतिक सूर्य्य के बिना उत्पत्ति होना असम्भव है, इसी प्रकार जो सूर्य्यादि का भी उत्पन्न करनेवाला पुरुष है और जिसका क्रम 'अघमर्षण' मन्त्र में दिया हुआ है उसको आदित्य वर्ण कहा है। 'तमसः परस्तात्' तम अर्थात् अन्धकार से परे अथवा तम 'अज्ञान' से परे है, ज्ञान-स्वरूप होने से उसमें अज्ञान की सम्भावना कदापि नहीं हो सकती। दूसरे 'तम' जड़ प्रकृति को भी कह सकते हैं; क्योंकि उसमें सर्वदा ज्ञान का अभाव है। 'तमसः परस्तात्' का अर्थ यह भी है कि वह पुरुष उस प्रकृति से, जो सृष्टि की उत्पत्ति का उपादान कारण है परे है; कि जिसका प्रयोजन यह है कि यह मत समझो कि यह सारा संसार प्रकृति (matter)

का ही खेल है, इससे परे कुछ नहीं है। वेद-मन्त्र बतलाता है कि उससे परे पुरुष है। 'तम' के अर्थ रात्रि के भी हो सकते हैं। यहाँ प्रयोजन उस महारात्रि से है जिसको प्रलय-काल कहते हैं, उस समय में कोई प्राकृतिक वस्तु विद्यमान नहीं रहती; अपने कारण-रूप में लय हो जाती है: परन्तु वह पुरुष उससे भी परे है अर्थात् उस महा रात्रि का प्रभाव उस पुरुष पर कुछ भी नहीं पड़ता। तम के इस अर्थ से यह भी सिद्ध होता है कि उस पुरुष के "आदित्य वर्ण" विशेषण से किसी को यह भ्रम न हो कि वह पुरुष कोई तेज-पुञ्ज प्राकृतिक महान् सूर्य है। अब इससे आगे वेद-मन्त्र में इस बात की व्याख्या की गई है कि प्रागुक्त आदर्श का मनुष्य को क्या आवश्यकता है और उससे प्राणियों को क्या लाभ है? इसका विवरण इस प्रकार से आता है 'तमेव विदित्वा' यानी उस महान् पुरुष को जानकर उसका ज्ञान प्राप्त करने ही से हम अमृत पद अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर बार-बार मरने-जीने के दु:खों से छूट सकते हैं। आगे बढ़कर वेद-मन्त्र इस बात पर ज़ोर देता है 'नान्य: पन्था' कोई दूसरा रास्ता इसके लिए है ही नहीं। मनुष्य जब मनन करते-करते सांसारिक वस्तुओं का प्रथम ज्ञान प्राप्त करता है फिर शनै:-शनै: वेद-शास्त्र के ज्ञान को प्राप्त होकर भौतिक पदार्थों का स्वरूप देखने और उनके मर्मों को समझने लगता है (जिसको अँगरेज़ी भाषा में सायंस वा फिलासोफी कहते हैं)

तब जिन मनुष्यों को ईश्वरीय ज्ञान का कुछ अभ्यास प्रथम से था उनके ज्ञान का विकाश होता जाता है और पुरुष जो अभ्यासी न थे उनको उस (ईश्वरीय) ज्ञान का प्रकाश (प्राकृ-कृतिक संसार में) झलकने लगता है, और ज्यों-ज्यों सूक्ष्मतर विचार होते जाते हैं त्यों-त्यों जीवात्मा को परमात्मा निराकार, निर्विकार का मानसिक दर्शन होने लगता है; यही जीवात्मा के ज्ञान की पराकाष्ठा है। उस पराकाष्ठा को पहुँचकर जीवात्मा को वह क्षणभंगुर सुख जो कि प्राकृतिक पदार्थों की उपासना में होता था, तुच्छ विदित होने लगता है और उसके स्थान में चिरस्थायी आनन्द जो कि उस आनन्द-स्वरूप सर्व-शक्तिमान् की उपासना से प्राप्त होता है उपलब्ध हो जाता है— इसी को मोक्ष कहते हैं।

———

"अघमर्षण"

श्री १०८ श्रीमत् स्वामी दयानन्द सरस्वतीजीकृत पञ्च महायज्ञ विधि में "ओंऋतं च०" इत्यादि ऋग्वेद अ० ८ अ० ८ के ३ मन्त्र आये हैं जिनका शीर्षक "अघमर्षण" दिया हुआ है। इस बात पर तो सभी सहमत हैं कि इनका प्रयोजन पाप-निवृत्ति रक्खा गया है, परन्तु इस बात पर विशेष वाद-विवाद है कि इन मन्त्रों में कोई भी शब्द या आशय ऐसा नहीं पाया जाता है कि जिससे कोई पापों से छूटने का उपाय स्पष्ट होता हो अथवा ईश्वर से प्रार्थना की गई हो कि हे ईश्वर! हमको पाप-कर्मों से बचाइए। सारांश यह कि इन मन्त्रों का अघमर्षण से कुछ सम्बन्ध ही ज्ञात नहीं होता; यहाँ तक कि किन्हीं-किन्हीं विद्वानों ने इन मन्त्रों को अघमर्षण के शीर्षक से हटाकर उनके स्थान में दूसरे ही वेद-मन्त्र रख दिये हैं, जैसे—

देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमस्यात्मकृतस्यैनसोऽवयजनमस्येनस एनसोवयजनमसि, यच्चाहमेनो विद्वाँश्चकार यच्चाविद्वाँस्तस्य सर्वस्यैनसो वयजनमसि'॥ य० अ० ८ म० १३

(देखो पञ्च महायज्ञ विधि, पूर्णचन्द्र दीक्षित द्वारा प्रकाशित—यू० पी० आर्ट प्रिंटिंग वर्क्स प्रेस में मुद्रित सन् १९१२ ई०)।

पूर्व इसके कि मन्त्रों के अर्थ व भावार्थ पर विचार किया जाय; यह अनुपयोगी न होगा कि अघमर्षण के अर्थ पर साधारण रीति से विचार कर लिया जाय।

शब्दार्थ—"अघ" = पाप। यदि इस शब्द की साधारणतया परिभाषा इस प्रकार की जाय तो कुछ अनुचित न होगा, ईश्वरीय नियम वा नियमों का उल्लङ्घन कि जिनका प्रतिफल दुःख होता है पाप कहलाता है। ऐसे लोग जो ईश्वर को कर्मों का फल-दाता नहीं मानते हैं यदि इस परिभाषा में शब्द ईश्वरीय को छोड़कर उसके स्थान पर सार्वभौमिक या सर्वग्राही यूनीवरसल ला (Universal Law) का प्रयोग कर लें तो उनको इस परिभाषा के मानने तथा ग्रहण करने में कोई आपत्ति न होगी। सारांश यह कि वे कर्म कि जिनका अन्तिम परिणाम दुःख हो—पाप कहाते हैं। 'मर्षण' का अर्थ है 'सहना, दबा लेना वा दूर करना' (देखो ब्रह्मबोधिनी सन्ध्या पृष्ठ ५२, स्टार प्रेस, प्रयाग, संवत् १९७४ वि०) श्रीयुत पं० सातवलेकरजी जैसे सुयोग्य लेखक ने मर्षण का अर्थ अपनी बनाई सन्ध्योपासना प्रथम संस्करण के पृष्ठ ९४ पर 'सहन करना' लिखा है और एक अपनी चिट्ठी ६ अगस्त सन् १९२१ ई० में यह भी लिखा है कि '**मृष्**' धातु से मर्षण शब्द बनता है। 'मृष्' धातु का अर्थ पाणिनी मुनि 'सेचने सहने च' (to sprinkle; to endure) सींचना, सहना इतना ही देते हैं। मर्षण शब्द का कोषों में अर्थ सहना ही है

(endurance; patience) अर्थात् परिणाम को शान्ति से सहना इतना ही अर्थ है। उपर्युक्त पण्डितजी ने मर्षण शब्द के अर्थ सहन करना यहाँ पर लिखा है कि जिसका प्रयोग वह इस स्थान पर यह दिखलाते हैं 'पाप तो मैं करूँ और दण्ड भोगने के समय भाग जाऊँ—यह भीरुता है। भीरुता धर्म नहीं हो सकता, धृति अर्थात् धैर्य्य हो धर्म है। पाप करने के पश्चात् यही धैर्य्य धर्म है कि उस किये हुए पाप को मानना और योग्य दण्ड भोगने के लिए आनन्द से उद्यत होना। इस प्रकार की धैर्यमय धार्मिक प्रवृत्ति को उपासक के अन्दर बढ़ाने का कार्य्य अघमर्षण के मन्त्र कर रहे हैं। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि सब मनुष्य पापाचरण के दण्डरूपी फल से बचना चाहते हैं यह भीरुता अर्थात् आत्मिक निर्बलता है। दूसरे पाप का फल दण्ड न्यायानुकूल है, उसके भोगने को उद्यत होना न्याय का पालन करना है; इसलिए अघ (पाप) के फल दण्ड के भोगने की सहन-शक्ति को बढ़ाना एक प्रकार की आत्मिकोन्नति है।

श्रीमान् स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने अघमर्षण का शब्दार्थ न लिखकर भावार्थ इस प्रकार से लिखा है, 'अघ-मर्षण अर्थात् हे ईश्वर! तू जगदुत्पादक है०' इत्यादि स्तुति करके पाप से दूर रहने के उपदेश का मन्त्र लिखते हैं। यद्यपि स्वामीजीकृत अर्थों और प्रशंसित पंडितजी के अर्थों में कुछ विरोध नहीं है तथापि उक्त पंडितजी के अर्थ

का प्रयोग मन्त्रों के साथ करने में कुछ मानसिक क्रिया (mental process) में अवश्य भेद पड़ेगा और कुछ शंकाएं भी उत्पन्न होती हैं। जो मनुष्य जिस वस्तु अथवा कार्य का अभ्यासी हो जाता है अथवा जिस कठिनाई का सामना करते-करते उसके सहन करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है, उससे वह डरता नहीं। यह निडरपन आत्मिक-उन्नति का फल नहीं वरन् अभ्यास का परिणाम है। इस प्रकार दण्ड भोगने की सहन-शक्ति बढ़ाने से उस दण्ड का भय हमको नहीं रहेगा अथवा कम हो जावेगा। पापों के दण्ड भोगने का भय होना भी हमको बहुत कुछ पाप करने से रोकता है। यदि वह भय न रहा अथवा कम हो गया तब तो पापों में विशेष प्रवृत्ति होने का भय है। एक चोर का उदाहरण लीजिए कि जब कोई मनुष्य प्रथम ही किसी प्रकार का जुर्म करना चाहता है तब उसको राजदण्ड का अति भय होता है और वह प्रायः उस भय के कारण उस जुर्म को करने से बचा रहता है; जब कोई मनुष्य बार-बार चोरी करता और राज-दण्ड भी कई बार साहस के साथ भोग चुकता है तो उसको जेल का कुछ भी भय नहीं रहता और राजदण्ड विशेष रूप से उसके चोरी करने के स्वभाव को नहीं छुड़ा सकता। ऐसे लोग (habitual offenders) जिनका जुर्म करना अभ्यास हो जाता है कारागार को ससुराल कहा करते हैं और जेल से भयभीत होनेवालों की दिल्लगी उड़ाया करते हैं। परिणाम

यह निकला कि दण्ड भोगने का साहसी या अभ्यासी होना पाप से बचने का साधन नहीं है। भीरुपन अवश्य आत्मिक निर्बलता है परन्तु इसका कारण अज्ञान है। यह भीरुपन सदुपदेश से ही दूर हो सकता है। जब किसी मनुष्य को सदुपदेश अथवा सत्संग द्वारा दृढ़ विश्वास हो जावे कि 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' ईश्वर ऐसा न्यायी और निष्पक्ष है और उसके नियम ऐसे अटल हैं कि जो कुछ कर्म भला या बुरा लोगों ने किया है उसका फल मिले बिना कदापि नहीं रह सकता, तब उसको भीरुता दिखलाना निष्फल ज्ञात होगा और शनैः-शनैः जितना यह विचार दृढ़ होता जावेगा कि दण्ड अनिवार्य है, उतनी ही उतनी भीरुता (पाप के दण्ड से बचने की प्रार्थना, रुदन इत्यादि करना) उसके हृदय से कम होती जावेगी।

द्वितीय अटल न्याय का विश्वासी होना पाप के दण्ड के अभ्यासी होने से नहीं होता; जितना-जितना ईश्वर की न्याय-परायणता का ज्ञान मनुष्य को होता जाता है और जब सत्संग और मनन-द्वारा मनुष्य पर यह प्रकट हो जाता है कि मनुष्य समुदाय तो क्या सारे संसार के संगठन का मुख्य आधार न्याय है। ईश्वर तो क्या यदि कोई राजा भी अपनी न्यायपरा-यणता से गिर जाता है, तो उसके राजकाज का चलना अति कठिन हो जाता है और सर्वसम्मति से लोग उसको अनधि-कारी कहने लगते हैं और फिर यह कहावत उसके लिए चरि-

तार्थ नहीं ख़्याल की जाती है कि 'राजा में ईश्वर का अंश होता है'; तब उसको इस बात का विश्वास हो जाता है कि 'कर्म प्रधान विश्व रचि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा' और जब यह विश्वास हो जाता है तब उसके हृदय पर न्याय का पूर्ण महत्व जम जाता है; तब वह दण्ड भोगते समय व्यर्थ प्रलापादि आत्मिक निर्बलता को नहीं दिखलायेगा और न व्यर्थ ईश्वर को दोष देना आदि निर्बलताओं का प्रयोग करेगा। पापाचरण का दण्ड भोगते समय (आपत्ति आ जाने पर) धैर्य-धारण करना बुद्धिमत्ता का काम है; वरन् नित्य प्रति दण्ड भोगने के साहस को बढ़ाना ईश्वरीय दण्ड के भय को हृदय से कम करना है (जो भय कि मनुष्य को प्रायः पापाचरण से रोकता है) ऐसी मानसिक वृत्ति बनाना अघमर्षण के प्रयोजन के सर्वथा विपरीत ज्ञात होता है।

तीसरे अघमर्षण के मन्त्रों में कोई भी ऐसा शब्द नहीं आया है कि जिसका भावार्थ वा अर्थ यह हो कि मनुष्य को पापों का दण्ड भोगने के लिए प्रयत्न करना चाहिए और इस प्रकार से उसकी सहन-शक्ति बढ़ने से वह पापों से छूट जावेगा, जो ऊपर कहा गया है कि इन अर्थों में मानसिक क्रिया में भेद है वह इस प्रकार से है कि यदि मर्षण शब्द के अर्थ सहन लेकर हम सन्ध्या करते समय इन मन्त्रों का पाठ करते हैं तो हमारे चित्त में प्रधान लक्ष्य यह होता है कि इन मन्त्रों-द्वारा हमको दण्ड-सहन-शक्ति बढ़ाना है अर्थात् जब हम दण्ड भोगें तो

भीरुता न दिखलायें; परन्तु जब हम मर्षण शब्द से विमोचन अर्थात् दूर करने, पृथक् करने इत्यादि अर्थ लेते हैं तो हमारी मनोवृत्ति तत्काल ही यह हो जाती है कि इन मन्त्रों-द्वारा हम पाप से ही परे रहेंगे और पाप हमारे समीप नहीं आ सकेंगे। इन दो प्रकार के विचारों का फल हमारी मानसिक वृत्ति पर बहुत ही बड़ा पड़ता है। पिछला भाव हमारे विचारों को बहुत ही उच्च बनाता है कि हम इतने निर्बल नहीं कि पापों से न बच सकें। उच्चभाव ही मनुष्य की सब प्रकार की उन्नति का मुख्य हेतु हुआ करते हैं और फिर हम वेद-मन्त्रों के अर्थों तथा भावार्थों को इस दृष्टि से विचारेंगे और मनन करेंगे कि इनके अन्तर्गत कोई ऐसे उच्च विचारों तथा ज्ञान का उपदेश है कि उसके प्राप्त होने से मनुष्य पापाचरण से परे हो जाता है। इस शब्दार्थ पर विशेष विचार की आवश्यकता ज्ञात नहीं होती है, क्योंकि इन सब अर्थों का अन्तिम अभिप्राय एक ही है कि इन मन्त्रों-द्वारा पापों से छुटकारा पाना, इसलिए मन्त्रों के अर्थों पर विचार करना मुख्य बात है कि उनसे किस प्रकार से पापों से निवृत्ति हो सकती है। परन्तु उससे प्रथम इतना कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि शब्द-कल्पद्रुम कोष में 'मर्षण' का अर्थ क्षमा किया है। यह अर्थ यहाँ पर इसलिए संगत नहीं कि (१) अघमर्षण के तीन मन्त्रों में से किसी मन्त्र में कोई भी शब्द ऐसा नहीं आया कि जिसका अर्थ क्षमा माँगना हो सकता हो (२) किसी पुस्तक का अर्थ

करते समय उसके रचयिता के सिद्धान्त को दृष्टिगोचर रखना अत्यावश्यक है। श्री स्वामीजी महाराज क्षमा सिद्धान्त को निर्मूल समझकर नहीं मानते थे। तीसरे सन्ध्योपासन का प्रयोजन आत्मिकबल की प्राप्ति है। क्षमा माँगना भीरुता तथा अन्याय-मूलक है। यह आत्मिक निर्बलता है तथा अधर्म है। न्याय = धर्म, अन्याय = अधर्म—क्षमा से मनुष्य पापाचरण से नहीं बच सकता, उसको एक प्रकार का सहारा हो जाता है कि मैं ईश्वर से क्षमा माँग लूँगा और इस प्रकार दण्ड से बच जाऊँगा। इस प्रकार के विचारों का अभ्यास करना ऐसी मनोवृत्ति उत्पन्न कर देता है कि जो मनुष्य को पापाचरण से कदापि रोक नहीं सकती। प्रायः ऐसी मनोवृत्ति बढ़ते-बढ़ते मनुष्य में ऐसे विचार वा विश्वास उत्पन्न होते हैं जो पापाचरण के प्रवर्त्तक होते हैं और निम्न प्रकार के भाव मनुष्यों के बन जाते हैं 'यदि हम गुनाह न करते तो तेरा नाम क्षमा करनेवाला कैसे होता।"

کَناهم نه بودے ! نیکو (?) از شمار
ترا نام کے بودے امرزگار

To err is human, to forgive is Divine.

मनुष्य पाप करता है और ईश्वर क्षमा किया करता है, अर्थात् मनुष्य में पापाचरण स्वाभाविक है। ऐसे ही विचारों ने किन्हीं-किन्हीं मतों का यह सिद्धान्त बना दिया है कि मनुष्य पापाचरण से बचने में असमर्थ है। बिना क्षमा के मोक्ष नहीं।

पापों से बचना जब हमारी शक्ति से सर्वदा परे है तब उसके लिए प्रयत्न निष्फल है। फलतः पाप करना मनुष्य में स्वाभाविक है। ऐसे विश्वास आत्मिक निर्बलता उत्पन्न कर सदैव मनुष्य को पापाचरण से बचने में असमर्थ बना देते हैं। इस प्रकार के मन्तव्यों ने पाश्चात्य विद्वन्मण्डली में हलचल मचा दी कि जब ईश्वर ने जीव को रचा और उसको पापाचरण से बचने में असमर्थ बनाया तो पाप करने पर उसको दण्ड क्यों देता है।

पापों से बचना

प्रथम इसके कि अघमर्षणवाले वेद-मन्त्रों का अर्थ और व्याख्या की जावे और देखा जावे कि इन मन्त्रों का अघमर्षण से क्या सम्बन्ध है? यह उचित होगा कि इस बात पर विचार किया जावे कि हमारा अनुभव तथा युक्ति व प्रमाण हमको क्या बतलाते हैं। मनुष्य दूषित कर्मों से किस प्रकार बचा करता है, वे कौन-कौन हेतु हैं जो मनुष्य को पापाचरण से रोकते हैं, तब हमको यह देखना होगा कि वे कोई भी हेतु अघमर्षणवाले मन्त्रों में पाये भी जाते हैं या नहीं।

हम अपने व्यावहारिक कार्यों में नित्य देखा करते हैं कि मनुष्य जाति की उन्नति तथा रक्षा के लिए हमको कोई न कोई शासन-प्रणाली स्थापित करना अत्यावश्यक है। घर में पिता अथवा किसी अन्य बड़े-बूढ़े का घर का मुखिया होना अत्यावश्यक है। सामाजिक कार्यों के लिए सामाजिक संगठन

होता है और उसमें कोई मुखिया पंच, महतिया इत्यादि नाम से एक वा अधिक कार्य-संचालक शासन-कर्त्ता हुआ करते हैं। राष्ट्रीय कार्यों के लिए भी कोई राजा अथवा प्रधान और कुछ कर्मचारी भी हुआ करते हैं, और इन सबके कुछ न कुछ मौखिक अथवा लेख-बद्ध नियम नियत किये जाते हैं जिनके पालन के लिए उन शासन-कर्त्ताओं को अपने संगठन के व्यक्तियों को बाधित करना पड़ता है। प्रत्येक समुदाय में ऐसे इने-गिने पुरुष हुआ करते हैं कि जो उन नियमों का इच्छा व श्रद्धा से पालन करना अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं और अन्यों के लिए उदाहरण बनते हैं; नहीं-नहीं ऐसे मनुष्यों की भी गणना कम होती है कि जो उन नियमों को अपना तथा अपने समाज का लाभ समझकर ही पालन करते हैं और इस सिद्धान्त को समझे हुए हैं कि सबके हित मे हमारा भी हित है और उसके विरुद्ध चलने में हमारी सब प्रकार की हानि होगी—इस विचार से स्वयं ही उनके पालन मे उद्यत रहते हैं, परन्तु ऐसे मनुष्यों की संख्या प्रत्येक समुदाय तथा जाति में अधिक हुआ करती है कि जो उन नियमों को पालन करने के लिए केवल दण्ड के भय से बाधित किये जाते हैं, चाहे वह दण्ड सामाजिक—भाई-बन्धु से पृथक् करने, हुक्का-पानी बन्द करने इत्यादि का—हो, चाहे वह राष्ट्रीय दण्ड—देश-निकाला, कारागार इत्यादि—हो, और इसी कारण से प्रत्येक जाति अथवा प्रत्येक समुदाय के लिए कोई न कोई दण्ड-संग्रह बनाने की आवश्यकता हुआ

करती है। चाहे वह दण्ड-संग्रह सभ्य, सुशिक्षित जातियों की तरह पुस्तकाकार हो अथवा अशिक्षित जंगली जातियों की तरह मौखिक हो। यही दशा हम धर्म-सम्बन्धी बातों में देखा करते हैं। प्रथम कोटि के वे मनुष्य हुआ करते हैं जिनमें सदाचार स्वाभाविक सा ही प्रतीत होता है। दुराचार की ओर स्वप्न में भी उनकी दृष्टि नहीं जाती। इनको हम महात्मा, सज्जन इत्यादि नामों से पुकारते हैं।

द्वितीय कोटि के वे मनुष्य हुआ करते हैं जिनका हृदय यद्यपि इतना शुद्ध नहीं है कि उनका मन प्रथम कोटि के मनुष्यों की तरह कभी चलायमान न होता हो अथवा न हुआ हो; परन्तु जब उनका मन उनको दुराचार की ओर खींचता है, तब वे आप इस बात को विचार कर कि इसमें मान-मर्यादा की हानि होगी, संसार में लोग घृणा की दृष्टि से देखेंगे, पर-लोक बिगड़ जायगा ऐसा विचार कर अपने पग को दुराचार के पन्थ से हटा लेते हैं—ये मध्यम कोटि के पुरुष हैं।

तीसरी अथवा निकृष्ट कोटि के वे मनुष्य हैं जो कठिन राजदण्ड के भय से कम्पायमान होकर दुराचार से रुक जाते हैं अथवा उस सर्वशक्तिमान् राजराजेश्वर की घोर दण्ड-व्यवस्था के भय से कम्पायमान होकर पापाचरण से संकोच करने लगते हैं। प्राय: सभी मत-मतान्तरों की पुस्तकों में विशेष रूप से स्वर्ग वा नरक का वर्णन मिलता है। स्वर्ग के सुखों की श्रेष्ठता — नरक के दु:खों की भयानकता विशेष प्रकार से दर्शायी जाती

है, जिसका प्रतिफल यह होता है कि स्वर्ग के उत्तम भोगों की अभिलाषा से द्वितीय कोटि के मनुष्यों की धर्माचरण की ओर विशेष प्रवृत्ति और दुष्कर्मों से घृणा बढ़ती है, और नरक के भयानक से भयानक कष्टों के डर से भयभीत होकर तृतीय कोटि के मनुष्य दुराचार से संकोच करने लगते हैं।

सारांश यह कि इस संसार में तीन प्रकार के मनुष्य पाये जाते हैं। एक प्रथम अथवा उत्तम कोटि के सत्वगुणी पुरुष हैं जिनको ईश्वर-जीव-प्रकृति के यथार्थ रूप का बोध है, जिनके हृदय-चक्षु सत्य, विद्या और विद्याभ्यास तथा योग-साधन द्वारा ऐसे प्रकाशित हो गये हैं और उनका लक्ष्य केवल मोक्ष है और सारे संसार के भोग-विलासों को तुच्छ दृष्टि से देखते हैं। मिस्टर फ़िशे Fitche (जर्मन फ़िलासफ़र) के कथनानुसार वे जानते हैं कि (All enjoyments are but degradation of reason.) सारे भोग-विलास चाहे वे स्वर्गीय ही क्यों न हों हमारी आत्मिक अवनति का कारण हैं। इससे यह न समझना चाहिए कि इस कोटि में केवल त्यागी पुरुष ही हैं जो कि संसार को त्याग, एकान्त वास करके, योगाभ्यास साधन करते हैं। तारुकुद्दुनिया होकर ख़ुदा की याद में गोशा-नशीन हो रहे हैं; नहीं-नहीं इस कोटि में वे सब लोग सम्मिलित हैं—चाहे जिस आश्रम या समुदाय के हों—जिन्होंने निम्न-लिखित वेद-मंत्र को अपना जीवनादर्श बना लिया है और इसलिए उनको कर्म-फल की अभिलाषा नहीं होती और जब

२

उनको फलाशा की तृष्णा नहीं तब वे उन कर्मों को करते हुए उनमें लिप्त नहीं होते:—

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

यजु० अ० ४० मंत्र २

भावार्थः—मनुष्य कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा करे, परन्तु कर्मों में लिप्त न हो जावे और निकम्मा भी न बने और न अनुचित भोग-विलास की अभिलाषा से दीर्घायु होने को अपना जीवनोद्देश्य स्थिर करे; किन्तु कर्त्तव्य-कर्म करने के लिए दीर्घायु को प्राप्तव्य समझे, परन्तु कभी कर्मों को किसी यन्त्र के तुल्य बिना विचारे करने का अभ्यासी न बने। वही कर्म देश, काल, परिस्थिति के सम्बन्ध से शुभ और (अन्य समय) अशुभ होता है। एक स्त्री से विवाह हो जाने पश्चात् सन्तान उत्पन्न करना पितृ-ऋण से उद्धार होना है। बिना इस सम्बन्ध के अथवा परनारी प्रति ऐसा विचार करना तक पाप है। इसलिए सर्वोत्तम सत्व गुणी मार्ग अघमर्षण का ज्ञान है, इससे मनुष्य कायिक, वाचिक और मानसिक किसी प्रकार के पाप में लेशमात्र भी लिप्त नहीं रहता।

दूसरी कोटि में वे रजोगुणी मनुष्य हैं जो विद्वान्, सत्संगी हैं, जिनके उच्च भाव हैं, परन्तु कामना-रहित नहीं और सांसारिक और पारमार्थिक कामनाओं से हृदय अभी पवित्र

नहीं हुआ है। ऐसे मनुष्य इस संसार में अपनी मान-प्रतिष्ठा की कामना और परलोक अथवा परजन्म के सुखों की इच्छा से पाप कर्मों से बचा करते हैं, और सन्मार्ग के अनुगामी होने का प्रयत्न किया करते हैं—यह अघमर्षण का दूसरा, मध्यम अथवा रजोगुणी, मार्ग है; इसमें तृष्णा शेष रहने से पाप का मूल नाश नहीं होता। तृष्णा पापों का हेतु है। मनुष्य के हृदय-क्षेत्र में यह तृष्णारूपी वीर्य्य अपने अनुकूल परिस्थिति पाकर अघरूपी काँटेदार वृक्ष उगाने लगता है।

तीसरी कोटि के वे मनुष्य हैं जो विशेष कर राजदण्ड या ईश्वरीय दण्ड के भय से भीरु होकर पापाचरण करने से रुकते हैं, परन्तु इनके शुभाशुभ संकल्पों के पल्ले नीचे-ऊँचे हुआ करते हैं। मन संकल्प-विकल्प में ही फँसा रहता है; जब इन्द्रियों के वशीभूत हुए तो कुमार्गगामी बन जाते हैं और फिर जिस समय किसी कारण उनके हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ कि इसका परिणाम अति भयानक है तो उनकी मनोवृत्ति दूसरी ओर हो जाती है; और इसी प्रकार उनकी बार-बार मनोवृत्ति पापाचरण से हटती रहने के कारण कुमार्ग छोड़ सुमार्गगामी भी बन सकते हैं; किन्तु इसमें तो संशय नहीं कि दण्ड-भय से प्राय: पाप-कर्मों से बच जाया करते हैं—इसको निकृष्ट अथवा अघमर्षण का तमोगुणी मार्ग कहते हैं।

प्रथम कोटि में अघ का मूल-नाश, वीर्य्य के उगने की

सम्भावना नहीं—दूसरी कोटि में अंकुर विद्यमान परन्तु उच्च भावरूपी तीक्ष्ण किरणों के ताप से मुरझाया रहता है—तीसरी कोटि में दुराचरणरूपी वृक्ष को भयरूपी लूह समय-समय पर सताया करती है, अतः विशेष वृद्धि नहीं कर सकता, कभी सद्विचाररूपी प्रचण्ड वायु से गिर भी जाता है और इस प्रकार मनुष्य तृतीय कोटि से द्वितीय और द्वितीय से प्रथम में भी पहुँच जाता है ।

प्रश्न यह होता है (इनके अतिरिक्त) कि ईश्वर से क्षमा-प्रार्थना करना, पापों से पश्चात्ताप (तोबा) करना, पापों के क्षमा करने-करादेने के लिए व्यक्ति विशेष (ईसा, गंगा इत्यादि) पर विश्वास लाना; अघमर्षण के उपाय हैं अथवा नहीं ? इसमें बहुत मतभेद है, परन्तु पूर्व-कथित तीन मार्गों में कदाचित् ही मतभेद हो सकता है, और उनके सर्वग्राह्य मन्तव्य होने में कुछ आपत्ति नहीं। परन्तु क्षमा आदि मन्तव्यों पर भी एक साधारण दृष्टि (यहाँ पर) डाल ली जावे तो कुछ अनुचित न होगा ।

प्रथम क्षमा-प्रार्थना से अघमर्षण किस प्रकार हो सकता है ? इस पर विचार किया जाता है। पूर्व कह आये हैं कि क्षमा की प्रार्थना करने से भीरुता उत्पन्न होती है और अन्याय की ओर उसका चित्त प्रेरित होता है कि 'हे ईश्वर ! तू मेरे लिए अपनी उस न्याय-व्यवस्था को तोड़ दे कि जिसके अनुसार पापी को दुख और धर्मात्मा को सुख प्राप्त हुआ करता

है। क्षमा की प्रार्थना वास्तव में क्या है? पापों से तो क्षमा नहीं माँगता परन्तु पापाचरण का फल जो दुःख होता है उससे प्रार्थी भयभीत होकर ईश्वर से यह कामना करता है कि हे ईश्वर! तू मुझे मेरे कर्मों का फल जो दण्ड है न दे और मेरे दुष्कर्मों के कारण जो ईश्वरीय व्यवस्थानुसार मुझे दुःख होनेवाला है—उससे बचा दे। इससे स्पष्ट विदित है कि मनुष्य पाप-कर्म के पश्चात् आनेवाले कष्ट-क्लेशों से बचने के लिए प्रार्थना करता है, और जब नित्य-प्रति ऐसी प्रार्थना करेगा तो मनुष्य में स्वावलम्बन-वृत्ति घटने और भीरुता की मात्रा अधिक होने लगेगी। इस प्रकार मनुष्य में आत्मिक निर्बलता बढ़ती जाकर वह अपने स्वरूप ही को भूल बैठेगा कि जिसका भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्णजी ने उपदेश किया है।

'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥'

अ० २ श्लो० २३॥

अर्थः—इस आत्मा को न अस्त्र-शस्त्र ही छेद सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न पानी डुबो (भिगो) सकता है और न वायु ही सुखा सकती है।

इस प्रकार मनुष्य की आत्मा स्वावलम्बन-सम्बंधी उच्च विचारों से गिर जावेगी, तब तो ऐसी सन्ध्या-पूजा आत्मिक बल-वृद्धि के स्थान में आत्मिक निर्बलता का कारण बन जावेगी। दूसरा भाव इस क्षमा-प्रार्थना का यह निकलता है कि मनुष्य यह जानते हुए

कि ईश्वर की अटल न्याय व्यवस्थानुसार पापों का फल दुःख और पुण्य का फल सुख हुआ करता है, परमात्मा से यह प्रार्थना करता है कि तू अपने इस न्याय-युक्त अटल नियम को भङ्ग कर दे। ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो दुःख से निवृत्ति न चाहता हो; इसलिए यदि क्षमा का मन्तव्य (मसला) ठीक हो तो सभी मनुष्य क्षमा चाहेंगे और ऐसी दशा में परमात्मा को सबको क्षमा करना चाहिए! फिर तो यह कहना कि पापों का फल दुःख होता है—ठीक न रहा, और सज़ा-जज़ा का मसला युक्ति-शून्य आधार पर स्थिर नहीं रह सकता। यदि यह कहा जावे कि ईश्वर केवल उन्हीं को क्षमा करेगा या करता है जो सच्चे जी से क्षमा की प्रार्थना करते हैं, यह भेद निरर्थक है; क्योंकि ऐसा जीवधारी कोई नहीं है (मनुष्य का तो कहना ही क्या) जो दुख से बचने की वास्तविक अभिलाषा न रखता हो। ऐसी दशा में किसी की प्रार्थना उस अभिलाषा के पूर्ण करने के लिए बनावटी नहीं हो सकती। यदि वह न्यायकारी जगदीश्वर इस प्रकार की प्रार्थना स्वीकार करके पापियों को पाप-दण्ड से मुक्त कर देता है, तो उस में अन्याय की झलक आ जाती है; क्योंकि पापों से मुक्त होने के पश्चात् ही मोक्ष प्राप्त हुआ करती है। फिर एक ओर योगी जो कि अपने जन्म-जन्मान्तर के योगाभ्यास तथा तत्सम्बन्धी अन्य कर्मों द्वारा बड़े परिश्रम से मोक्ष-पद को प्राप्त करता है दूसरी ओर एक पापी जो क्षमा-प्रार्थना द्वारा अपने पापों का भार उतार, मोक्ष पद को प्राप्त

करता है; तब तो परमेश्वर में पक्षपात स्पष्ट ही है । और वह अपनी स्थापित मर्यादा का स्वयं तोड़नेवाला कहा जा सकता है । एक राजा अथवा राजकर्मचारी का उदाहरण लीजिए, यदि वह किसी घातक को किसी सिफ़ारिश अथवा ख़ुशामद अथवा जातीय पक्षपात आदि के वश होकर दण्ड देने से छोड़ दे तो सारे के सारे मनुष्य यही कहेंगे कि बड़ा पक्षपात और अन्याय किया और उस मनुष्य के इष्टमित्र और परिवार वाले कि जिसका उसने घात किया था, त्राहि-त्राहि करेंगे और यही कहेंगे कि इस राज्य में अब बसने का समय नहीं है क्योंकि यहाँ कुछ भी न्याय नहीं होता और न फ़रियादी की फ़रियाद सुनी जाती है, इस दशा में ईश्वर से यह भी प्रार्थना करेंगे कि अब तो तेरे सिवाय कोई न्याय करनेवाला नहीं दीखता । यदि उस राजराजेश्वर के यहाँ से भी वह निराश हो जाय अथवा ऐसा उसको ज्ञात हो कि यहाँ भी अन्याय होगा तब तो उसके नैराश्य और दुख का कुछ पारावार ही नहीं रहेगा; क्योंकि वे तो सबके सब उस परम न्यायी परमेश्वर से यही आशा रक्खेंगे कि वह घातक के अतिरिक्त इस अन्यायी राजा या कर्मचारी तक को जिसने अन्याय किया है, यथेष्ट दण्ड देगा । इतिहास हमको बतलाता है कि मनुष्य जाति में सभी क़ौमों में वे राजे कि जिन्होंने अपने पुत्रादि परम प्रिय सम्बन्धियों को भी क्षमादान नहीं दिया और न्याय की तुला पर तौलकर यथार्थ दण्ड का भागी बनाया, मर्यादा-पुरुषोत्तम और चिरस्मर-

णीय कहे जाते हैं। प्राचीन समय के भारतवासियों के ऐसे उदाहरण तो बहुतसे हैं परन्तु अर्वाचीन समय का केवल एक उदाहरण पर्याप्त समझकर दिया जाता है। जिन्होंने नौशेरवाँ—ईरान के राजा—का (जिसने अपने पुत्र को एक जुर्म में प्राण-दण्ड देना निश्चित किया था) इतिहास पढ़ा है, वे पूर्वोक्त कथन के महत्त्व को भली भाँति समझ सकते हैं; सुतरां किसी व्यक्ति विशेष अथवा देव विशेष पर विश्वास लाने पर पाप-पुञ्ज भस्मीभूत हो जाते हैं ऐसे विचार रखनेवाले लोग तो ईश्वर को स्पष्ट ही अन्यायी और पक्षपाती ठहराते हैं, और उस न्यायकारी, रागद्वेष-रहित परमात्मा को मनुष्यों की भाँति सिफ़ारिश वा ख़ुशामद-पसन्द समझते हैं। मेरी समझ में तो क्षमा का मसला मनुष्य को पाप की ओर प्रवृत्त कराने में सहायक होता है। जब किसी पुरुष को यह दृढ़ विश्वास होगा कि अमुक पुरुष पर विश्वास लाने अथवा अमुक स्थान की यात्रा करने वा किसी विशेष जल में स्नान करने या ईश्वर से क्षमा माँगने में वह पापों के दण्ड से बच जायगा, तो उसको दण्ड का भय कम हो जाता है और उसके मन में यह सहारा बना रहता है कि मैं अमुक प्रयत्न से पाप करके भी पापों के दु:ख से बच सकता हूँ।

अब रहा तोबा का मसला—तोबा (पश्चात्ताप) के मन्तव्य का मुख्य प्रयोजन क्षमा माँगना नहीं है, क्योंकि उसका अभिप्राय यह है कि जब हम गुनाहों से तोबा करते हैं कि अब

हम पाप न करेंगे, तब ख़ुदा हमको हमारे कृत अपराध बख़्श देता है अर्थात् पूर्व किये हुए पाप-दण्ड से हमको क्षमा करता है। क्षमा माँगनेवाले भी यही कहा करते हैं कि हे ईश्वर! हम पापी हैं, अल्पज्ञ हैं, हमने इन्द्रियों के वशीभूत होकर पाप किये हैं; तू दयालु है, समर्थ है, हमारे पापों को क्षमा कर। क्षमा माँगते समय सभी पूर्वकृत पापों से पश्चात्ताप किया करते हैं और कहते हैं 'अब पाप न करेंगे'। कोई क्षमा-प्रार्थी कदापि यह नहीं कहता कि हे ईश्वर! जितने पाप मैं करता जाऊँ तुम क्षमा करते रहो। इसलिए क्षमा-प्रार्थना और तोबा में कोई वास्तविक भेद नहीं, परन्तु कभी-कभी यह युक्ति तोबा के पक्ष में दी जाती है कि तोबा में प्रधानरूप से भविष्य में पाप न करने से प्रयोजन है जो कि अघमर्षण का सहायक है।

मनुष्य पापों से पश्चात्ताप (तोबा) उस समय करता है कि जब वह पाप कर चुकता है तब कहता है कि हाय! मैंने इन्द्रियों के वशीभूत होकर पापकर्म किया और उसकी सज़ा मुझे नरक का दुख भोगना होगा, इसलिए तोबा (पश्चात्ताप) आत्मिक निर्बलता का बोधक है। पश्चात्ताप करनेवाला सोचता है कि हाय! मैं ऐसा निर्बलात्मा हूँ कि इन्द्रियों के वश होकर अमुक-अमुक कुकर्म मुझसे बन पड़े, तब वह ईश्वर से दण्ड की क्षमा माँगता और कहता है कि आगे को ऐसा कर्म न करूँगा। तोबा के मसले के साथ गुनाहों के मुआफ़ हो जाने का भाव प्रधान है, इसलिए पश्चात्ताप का असर भी कम

हो जाता है। यदि तोबा के मसले के स्थान में उसको यह मन्तव्य बतलाया जावे कि सज़ा-जज़ा अटल हैं, कर्म-फल अवश्य भोगना होगा, तो वास्तव में उसको पाप के दण्ड का भय होगा, और उस भय के कारण पाप से अवश्य बचेगा। दूसरे नित्य कर्म में तोबा का कोई स्थान नहीं हो सकता। जब तक मनुष्य पापाचरण नहीं करता तब तक उसको पश्चात्ताप की आवश्यकता नहीं। पश्चात्ताप आत्मिक निर्बलता का सूचक है; इसलिए यदि नित्य-कर्म सन्ध्योपासन में इसको स्थान दिया जावे तो इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य नित्य-प्रति नवीन-नवीन पाप करता जाता है और सन्ध्योपासन समय उसका पश्चात्ताप कर लेता है, क्योंकि बिना दुष्कर्म किये पश्चात्ताप हो ही नहीं सकता; ऐसी दशा में तो पश्चात्ताप न केवल व्यर्थ हुआ वरन् जब कुछ काल तक मनुष्य को यह बोध होता गया कि मेरा आत्मिक बल प्रायः इन्द्रियबल से कमज़ोर पड़ता है और यद्यपि मैं नहीं चाहता कि पापाचरण करूँ परन्तु उससे नहीं बच सकता, तब तो उस पर निराशा छा जावेगी और उसका पश्चात्ताप निष्फल ही होगा। इसके अतिरिक्त आत्मिक निर्बलता का भाव नित्य-प्रति हृदय-ग्राही होना आत्मिक अवनति का कारण है। सन्ध्योपासन अथवा ईश्वराराधना के समय हमारे उत्तरोत्तर उच्च भाव होने चाहिए।

ऊपर के लेख से हम इस परिणाम को पहुँचते हैं कि अघमर्षण अथवा पाप से निवृत्ति के तीन ही मार्ग हैं—(१)

उत्तम अथवा सात्विक-ज्ञान मार्ग (२) मध्यम अथवा राजस-सुख अथवा उन्नति की अभिलाषा (३) निकृष्ट अथवा तामस—दण्ड-भय-विश्वास । अब देखना यह है कि अघमर्षण के तीन मन्त्रों में कोई भी बात ऐसी आती है जो उपर्युक्त तीन मार्गों की बोधक हो और जिसके द्वारा हम पापाचरण से बच सकें । यदि ऐसा है तब तो वास्तव में यह मन्त्र अघमर्षण में उपयोगी है ।

पूर्व इसके कि इस पर विचार किया जावे मन्त्रों का अर्थ देना आवश्यक है ।

मन्त्रार्थ

"ओ३म् ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रोऽर्णवः ॥ १ ॥
समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत ।
अहो रात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतोवशी ॥ २ ॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ३ ॥

ऋग० अ० ८ । अ० ८ । व० ४८ ॥

(ऋतं) पूर्ण ज्ञान, ईश्वरीय ज्ञान (च) और (सत्यम्) सृष्टि रचने की सामग्री, प्रकृति, अव्यक्त—(अभि) अनन्त, पूर्ण-अभीद्धात् प्रकाश तथा ज्ञानस्वरूप से (तप) सामर्थ्य पुनः तपसइदं सर्वं असृजत् अर्थात् तप करके यह सब बनाया—(अधि अजायत) (अध्यजायत) उत्पन्न हो गये, यथा विधि प्रकट हुए—(ततः) उसके पश्चात्—(रात्रि) रात—(ततः) पश्चात्—(समुद्रः) आकाश, शीघ्रगामी वस्तु, भिगोनेवाला—(अर्णवः) पानीवाला (पञ्च महायज्ञ विधि स्वामीजीकृत), (२) कुहरा इत्यादि का समूह (ब्रह्मबोधिनी सन्ध्या), (३) हलचल में रहना (being agitated, being in motion), (सन्ध्योपा-

सना सातवलेकरजीकृत पृ० १०१) (अधि) पीछे—(संवत्सर) (संव-सन्ति इति) जिसमें सब बसते हैं, काल (सन्ध्योपासना सातवलेकरजीकृत), (२) समय-विभाग (ब्रह्मबोधिनी सन्ध्या, पृष्ठ ७५), (अजायत) पैदा हुआ, (उत्पन्न हुआ) वा प्रकट हुआ—(अहः) दिन—(रात्राणि) रात—(विदधत्) रचे—(विश्वस्य) उत्पन्न हुए भूतों अर्थात् संसार के—(मिषतः) सहज स्वभाव से—(वशी) अपने वश तथा नियम में रखनेवाला—(सूर्य्य) सूर्य्य, स्वयं प्रकाशित लोक—(चन्द्र) चन्द्रमा, वे लोक जो अन्यों से प्रकाशित होते हैं—(धाता) सबका धारण करनेवाला—(यथा पूर्वम्) जैसे पहिले अर्थात् पहिले के तुल्य—(अकल्पयत्) रचा—(दिवं) लोक अर्थात् प्रकाशवाले सूर्य्यादि लोक—(च) और—(पृथिवी) प्रकाश-हीन लोक; पृथ्वी चन्द्र इत्यादि—(अन्तरिक्षं) अवकाश या अवकाश में स्थित अन्य वस्तुएँ—(अथो) भी—(स्वः) मध्यस्थ, बीच के लोक और लोकान्तर ।

अर्थ:—ईश्वर के तपोबल से उसके पूर्ण ज्ञान से सृष्टि रचने की सामग्री सत् का प्रादुर्भाव हुआ, उसके पश्चात् रात्रि का प्रादुर्भाव हुआ, उसके पश्चात् अर्णव समुद्र, उसके पश्चात् संवत्सर फिर रात्रि और दिवस हुए। इस सारे उत्पन्न हुए संसार को ईश्वर ने अपने सहज-स्वभाव से ही बनाया व वश में किया। सूर्य, चन्द्रमा अर्थात् दिव्य यानी स्वप्रकाशित लोक, पृथ्व्यादि अन्यों से प्रकाशित लोक और उनके

मध्य का अवकाश और सारी सृष्टि के लोक—लोकान्तर पहिले ही की तरह रचे ।

प्रथम के दो मन्त्रों में सृष्टि उत्पत्ति का क्रम तथा उसके अनादि पदार्थ (जो स्वरूप अथवा प्रवाह से अनादि हैं) का ज्ञान कराते हुए इस बात का बोध कराया है कि सृष्टि रचने के पश्चात् ईश्वर उसको नियमबद्ध करके उस पर शासन कर रहा है ।

इन शब्दों का प्रयोग भी सृष्टि उत्पत्ति क्रमानुसार मन्त्र में किया है, और सृष्टि-रचना का उपादान, निमित्त कारणों का बोध कराते हुए रचना-क्रम को संक्षेप रीति से दर्शाया है । ऋतं—इस संसार का अनुभव हमको बतला रहा है कि किसी वस्तु की रचना के लिए उसके सांगोपाँग-ब्योंतनी (Complete design) की प्रथम आवश्यकता है, यदि उसमें कुछ त्रुटि हो गई तो वह रचना सफलता के साथ पूर्ण नहीं हो सकती । जब कि एक इंजीनियर (Engineer) किसी यन्त्रालय के बनाने का सङ्कल्प करता है तब प्रथम उसके मस्तिष्क में उस यन्त्रालय तथा उसमें स्थापित होनेवाले यन्त्रों का चित्र प्रकाशित होता है; उस यन्त्रालय तथा यन्त्रों के पुर्ज़ों तथा एक-एक कील-काँटे का चित्र उसके मस्तिष्क में पूर्व ही से स्पष्टरूप से विद्यमान हो जाता है; वरन् प्रत्येक पुर्ज़े का स्थान उसकी लम्बाई-चौड़ाई तथा उसके सञ्चालन का क्रम तथा उस विद्युत-शक्ति अथवा वाष्प-शक्ति का अनुमान और

उसका प्रयोग सबके सब उसके मस्तिष्क-रूपी काग़ज़ पर अंकित हो जाते हैं। अर्थात् किसी वस्तु की रचना के लिये उसका क्रम (order) व चित्र (design) रचयिता के चित्त में अंकित हो जाते हैं; तब वह चित्र कार्य-रूप में परिणत हो सकता है, अर्थात् किसी प्राकृतिक वस्तु की रचना के लिए एक-एक चैतन्य शक्ति की आवश्यकता है—अन्यथा व्योंतनी (design) और क्रम (order) का विचार ही असम्भव है, रचना का तो कहना ही क्या! इसी प्रकार से इस अनन्त सृष्टि (और उसमें स्थापित सूक्ष्म से सूक्ष्म प्राकृतिक नियम, कि जिनके अनुसार इस संसार का संचालन हो रहा है) के रचने के लिए एक अपूर्व, अद्वितीय और पूर्ण चैतन्य शक्ति की आवश्यकता है; और वह चैतन्य शक्ति सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, और सर्वज्ञ होना चाहिए। अन्यथा इस महान् यन्त्रालय के रचने के लिए व्योंतनी (design) और क्रम (order) का विचार करना असम्भव है। इसी-लिए वेद में सबसे प्रथम ऋतम् अर्थात् पूर्णज्ञान का शब्द आया है। इससे प्रकृतिवाद का भी खण्डन हो जाता है कि कहीं मनुष्यों को यह भ्रम न हो जावे कि यह संसार बिना ही किसी ज्ञान-शक्ति के स्वयं ही रच गया। वर्तमान समय में विकाशवादी (evolution theory) के माननेवालों में से बहुतों का ऐसा विचार प्रायः हुआ करता है 'किसी चैतन्य शक्ति की सृष्टि-रचना में आवश्यकता नहीं, प्रकृति और शक्ति (matter and force) का ही प्रादुर्भाव यह सृष्टि है।' परन्तु

अब उन्हीं पाश्चात्य विद्वानों के मत से सिद्ध हो गया है कि प्रकृति और शक्ति दो पृथक्-पृथक् वस्तुएँ नहीं, एक ही वस्तु के रूपान्तर हैं। (Different sides of the same thing.)

सर आलिवर लाज अपनी पुस्तक 'Making of Man' पृ० २४ पर लिखते हैं 'Matter is turning out to be one of the forms of energy' अर्थात् प्रकृति और शक्ति एक रूपान्तर सिद्ध हो रहा है।

प्रकृति और शक्ति दो पृथक्-पृथक् वस्तुएँ नहीं, एक ही वस्तु के रूपान्तर हैं? (Different sides of the same thing) उस वस्तु का वास्तविक स्वरूप क्या है? यह अकथनीय है; तब विकाशवादी किस तरह यह दावा कर सकते हैं कि प्रकृति और शक्ति से यह रचना हुई। दूसरे यदि वह पदार्थ (कुछ भी हो) शक्ति हो या प्रकृति (Force or matter), यदि चैतन्य नहीं है तो विकाशवाद का मूल नाश हुआ जाता है; क्योंकि विकाशवाद का यह भाव है कि आदि में कोई वस्तु या शक्ति थी कि जिसमें कुछ परिवर्तन हुआ और शनैः-शनैः वह परिवर्तन नियमानुसार कार्य रूप में परिणत होता गया, उत्तरोत्तर उत्तमोत्तम पदार्थ बनते गये और यह सृष्टि क्रम, जिसका सञ्चालन पूर्ण नियम-शृङ्खला में बँधा हुआ है, स्थापित हुआ और जिसकी एक उत्तम रचना मनुष्य-जाति है जिसको विवेक और विचार का सौभाग्य प्राप्त है अर्थात् एक आला दर्जे की चैतन्य-शक्ति उसमें उपस्थित है क्या कभी यह बात विचार में आ सकती

है कि एक जड़ वस्तु (जड़ उपादान कारण) से जिसे शक्ति या प्रकृति जो कुछ कहिए कोई चैतन्य वस्तु रची जा सकती है? किसी ऐसे उदाहरण का विचार में आना ही असम्भव है। दूसरे जब आदि में कोई चैतन्य-शक्ति सृष्टि-रचना के कार्य-क्षेत्र में थी ही नहीं तब यह व्योंतनी (design) और नियमता (order), जो कि विकाशवाद के लिए अत्यावश्यक हैं या यूँ कहिए कि विकाशवाद मन्दिर की नींव है, कहाँ से आया। इसलिए सृष्टि-रचना के लिए चाहे जिस तरह विचार कीजिए किसी चैतन्य-शक्ति की परमावश्यकता है और उसके बिना (cosmogony) सृष्टि-रचना का क्रम और उसके सञ्चालन का कोई भी हेतु नहीं मिलता। इसलिए वेद-मन्त्र में प्रथम ही ऋतं-पूर्ण ज्ञान का वर्णन आया है जिससे मनुष्य को यथार्थ क्रमानुकूल ज्ञान इस सृष्टि का हो जावे। सत्-सृष्टि रचने की सामग्री यानी उपादान कारण पूर्व इसके कि इस पर विचार किया जावे सत् के होने वा न होने में जो मत-भेद है, उसके विषय में कुछ विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। यद्यपि यह विषय एक महान् और महत्त्व-पूर्ण विषय का अंग है कि जगत् में नित्य पदार्थ क्या-क्या हैं और इसके लिए एक पृथक् पुस्तक लिखने की आवश्यकता है तो भी बिना इसके इस विषय का विस्तार-पूर्वक वर्णन नहीं हो सकता; परन्तु विषय लेखान्तर के लिए संक्षेपरूप से उस पर विचार करना पर्याप्त होगा। जो मत-भेद इस

विषय में है उसके दो मुख्य भाग हैं (१) द्वैतवाद (२) अद्वैतवाद। अद्वैतवाद के मुख्यतया दो स्वरूप हैं एक वह जो केवल ब्रह्म ही को सत् मानते हैं अन्य वस्तुओं को असत्; दूसरा स्वरूप पाश्चात्य विद्वानों का मत है जिसको अंगरेज़ी में (monoism) मानोइज्म कहते हैं। मानोइज्म के अनुयायी केवल एक प्रकृति को ही मानते हैं और अन्य वस्तुओं का उसका प्रादुर्भाव मानते हैं। द्वैतवाद के मुख्य दो भेद हैं (१) वह जो कि केवल प्रकृति और पुरुष (जीव) को नित्य मानते हैं (२) वह जो ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों को अनादि मानते हैं। तीन माननेवालों के अन्दर भी दो भेद हैं–प्रथम वे लोग हैं जिनका यह सिद्धान्त है कि तीनों नित्य हैं अर्थात् सदा से हैं और सदा ही रहेंगे, दूसरे वे लोग हैं जिनका यह सिद्धान्त है कि केवल ईश्वर नित्य है—सदा से है और (हमेशा) रहेगा, परन्तु जीव और प्रकृति अनादि नहीं, अनन्त हैं। अरबी भाषा के इस्तलाह में भी कहा जा सकता है कि जीव और प्रकृति अज़ली नहीं लेकिन अबदी हैं। इस प्रकार से सृष्टि के रचने की सामग्री के सम्बन्ध में मुख्य-मुख्य उपर्युक्त पाँच मन्तव्य हैं।

जो लोग यह मानते हैं कि "नभूमिर्नतोयं न तेजो न वायुः" न भूमि, न जल, न अग्नि, और न वायु है; केवल एक वेदस्वरूप ब्रह्म ही है। जीव के विषय में उनका कथन "अहंब्रह्म" का है अर्थात् जीव ब्रह्म है, ब्रह्म से पृथक् नहीं, यह लोग

सांसारिक रचना और घटनाओं के हेतु दिखलाने के लिए और इस प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रतिवाद करने के लिए कि सारी सृष्टि के मनुष्यादि जीव अपने आपको पृथक्-पृथक् और ईश्वर से भिन्न किस तरह पर अनुभव कर रहे हैं—माया का सहारा लेते हैं। उनका कथन है कि यह सांसारिक सारा प्रपञ्च माया के कारण है। यह असत् और केवल एक धोखा ही धोखा है। जिस समय मनुष्य को यह ज्ञान हो जाता है कि मैं ब्रह्म हूँ उस समय माया की ग्रन्थि खुल जाती है, और जैसे वायुमण्डल में हवा के डण्डूरे की ग्रन्थि खुलने पर डण्डूरे की हवा वायुमण्डल-रूप हो जाती है, इसी प्रकार ज्ञान के प्रकाश से माया की ग्रन्थि खुलने पर जीव और ब्रह्म में भेद नहीं रहता।

मूल प्रश्न यह है कि वह माया क्या वस्तु है और भ्रम किसको होता है और किस वस्तु का भ्रम होता है? यदि माया को हम ईश्वर से भिन्न और अनादि मानते हैं तब तो अद्वैतवाद का मूल सिद्धान्त ही नष्ट होता है, और माया और ब्रह्म दो हो जाते हैं इसलिए अद्वैतवाद नहीं रहा। यदि माया को ईश्वर से भिन्न न माना जाय वरन् ईश्वर का गुण माना जाय तो वह गुण ईश्वर में सदैव से है और सदैव रहेगा, फिर तो हमें इस प्रपञ्च को भी अनादि मानना पड़ेगा और अनादि सर्वदा अनन्त हुआ करता है। जिसका आरम्भ नहीं उसका अन्त भी नहीं और इस तरह पर अनादि असत्य न रहेगा वरन् नित्य हो जायगा। यदि यह कहा जावे कि ईश्वर और

ईश्वर का गुण माया अवश्य अनादि है, परन्तु वह चैतन्य स्वरूप ब्रह्म जब-जब इच्छा करता है तब-तब माया का प्रयोग करता है अर्थात् प्रपञ्च को रचना और बिगाड़ना समय-समय पर किया करता है और इस विषय में एक मकड़ी का उदाहरण दिया जाता है कि जब इच्छा होती है तो जाला पूर लेती है और जब इच्छा होती है तब उसको खा लेती है; इसका दूसरा अर्थ यह हुआ कि ब्राह्म-दिन में ईश्वर प्रपञ्च को रचता है और जब समेट लेता है तो उसको महाप्रलय या ब्राह्म-रात्रि कहते हैं—ऐसा अनादि काल से होता आया है और अनादि काल तक होता जायगा तब तो यह प्रपञ्च प्रवाह से अनादि ठहरा और इस प्रकार नित्य अर्थात् सत् हो गया, असत् नहीं रहा। दूसरी शंका यह उपस्थित होती है कि माया से भ्रम किसको होता है ? यदि माया को ईश्वर से पृथक् माना जाय तब तो यही मानना पड़ेगा कि ब्रह्म को भ्रम हुआ। निराकार, निर्विकार, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ को भ्रम होना मानना परस्पर दो विरोधी बातें हैं अर्थात् पूर्वापर विरोध होता है इसलिए असम्भव है। यदि माया को ईश्वर का गुण माना जाय तो ईश्वर के गुणों में एक गुण भ्रम बढ़ाना होगा, और सर्वज्ञता और भ्रमता एक साथ ही पुरुष विशेष में होना असम्भव है। तीसरे भ्रम किसका होता है? भ्रम अन्य वस्तु में अन्य वस्तु की कल्पना करना है। जब भ्रमी के अतिरिक्त अन्य वस्तु ही नहीं तो भ्रम का होना असम्भव है।

भ्रमी में भ्रम होने के लिए दो अन्य वस्तुओं की आवश्यकता है, एक वह जिसमें भ्रम हो और दूसरी जिसका भ्रम हो । इस विषय में प्रायः शून्यवादियों* की ओर से स्वप्न का दृष्टान्त दिया जाता है; जैसे स्वप्न के समय में कोई भी वस्तु उपस्थित नहीं होती परन्तु स्वप्न देखनेवाला वस्तुओं का अनुभव करता है। परन्तु यह दृष्टान्त इसलिए ठीक नहीं कि स्वप्न में अनुभव करनेवाले को जाग्रत दशा में सांसारिक वस्तुओं का अनुभव हो चुका है और स्वप्न में वह अपने पूर्व अनुभव का या उन अनुभवों के जोड़-तोड़ का या तत्सम्बन्धी किसी विलक्षण रूप-रूपान्तर का किसी न किसी रूप में अनुभव करता है। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि हाल का पैदा हुआ बच्चा भी तो स्वप्न देखा करता है, परन्तु बच्चे का सांसारिक अनुभव पैदा होने के समय से ही आरम्भ हो जाता है। किसी-किसी का मत है कि उसकी माता के उदर से ही अनुभव होना आरम्भ हो जाता है। इसके अतिरिक्त पुनर्जन्म माननेवालों का तो यह सिद्धान्त ही है कि आत्मा के साथ पूर्व जन्म के अनुभव रहा करते हैं फिर यह कहना कि बच्चा बिना पूर्व अनुभव के स्वप्न देखता है, सत्य नहीं है। इसलिए अद्वैतवाद का यह सिद्धान्त कि ब्रह्म के

* शून्यवादियों से यहां अभिप्राय उन लोगों से है जो सृष्टि को असत्य मानते हैं।

अतिरिक्त सब प्रपञ्च है ठीक नहीं है और न सिद्ध हो सकता है ।

दूसरा अद्वैतवाद यानी मानोइज्म (monoism), इसके विषय में पूर्व विकाशवाद के सम्बन्ध में कहा जा चुका है। इसके अतिरिक्त कि मानोइज्म (monoism) जिस वस्तु का होना मानता है, वह जड़ है या चैतन्य अर्थात् उसमें विचारशक्ति (Thinking power) है या नहीं ? यदि उसको हम जड़ मानते हैं तो यह संसार-रचना क्या बिना किसी पूर्व व्योंतनी (design) के ही हो गई अर्थात् सृष्टि-रचना के पूर्व कभी किसी ने यह विचारा नहीं था कि इस रचना की सामग्री इस प्रकार से कार्य-रूप में परिणत होने के योग्य बनाई जायगी और इस क्रम से यह सारा संसार बनेगा। हम देखते हैं कि सारा संसार अटल नियमों की शृङ्खला में बद्ध है, जिनको ईश्वरीय या प्राकृतिक नियम (Divine Laws or Laws of Nature) के नाम से हम पुकारते हैं। यह कदापि विचार में नहीं आ सकता है कि पूर्वोक्त (सृष्टि) रचना किसी जड़ पदार्थ का कार्य हो सकता है अर्थात् कोई जड़ पदार्थ इसका निमित्त कारण है (It is inconceivable that all this design and order and laws of evolution that we find in the world are the work of some blind force.)

विज्ञानवाद (Physical science) हमको बतलाता है कि प्रकृति अर्थात् मैटर (matter) में इनर्शिया (Inertia) एक

स्वाभाविक गुण है, अर्थात् यदि कोई प्राकृतिक वस्तु स्थिर है तो वह बिना किसी हेतु के अपनी स्थिर अवस्था को तोड़ नहीं सकती और यदि कोई वस्तु प्राकृतिक गतिमान् है तो बिना किसी रोकनेवाली शक्ति के वह स्थिर दशा में नहीं आ सकती। अब यदि वैशेषिक के इस सिद्धान्त के अनुसार "कारण गुण पूर्वकः कार्य गुणो दृष्टः" ॥ (वै० अ० २ आ० १ सूत्र २४) ॥ कि कारण का गुण कार्य में आता है, तब अर्थापत्ति से हमको यह मानना पड़ेगा कि इस सृष्टि में जो हम प्राकृतिक पदार्थों में इनर्शिया (Inertia) का नियम पाते हैं वह उसके कारण अर्थात् जगत् बनने की सामग्री में भी अवश्य होगा। अब यदि उस सामग्री में गति मान लें तो वह सामग्रा तथा उसकी गति दोनों अनादि होने के कारण यह कहना असम्भव है कि सृष्टि की रचना कभी हुई यानी विकृत रूप से प्रकृति में आई (from chaos into cosmos) क्योंकि गति ही सृष्टि बनने का कारण है। नेब्यूलर थियोरी (Nebular theory) इस बात का प्रतिपादन करती है कि प्रकृति में ज्यों-ज्यों गति होती गई त्यों-त्यों वह गाढ़ी होती गई और उससे लोक-लोकान्तर बनते गये; इसलिए उस गति का आरम्भ हम किसी समय में जब तक नहीं मानेंगे, सृष्टि-रचना का आरम्भ कहना विचार-शक्ति के बाहर है और अनादि काल से उसमें गति मानने से हमको यह मानना पड़ेगा कि यह सृष्टि अनादि काल ही से बन रही है तब उसका आरम्भ मानना कैसा! और नेब्यूलर थियोरी

के विरुद्ध यह विचार पड़ता है। यदि यह कहा जाय कि इस गति-द्वारा एक नियमित समय तक सृष्टि बना करती है और उसके पश्चात् उसका बिगड़ना आरम्भ हो जाता है और इस तरह पर बिगड़ते-बिगड़ते प्रकृति अपने स्वरूप में आ जाती है और फिर उसका बनना आरम्भ हो जाता है; इस प्रकार यह संसार-चक्र स्थिर रहता है, परन्तु इस संसार में बनने और बिगड़ने का मूल कारण दो शक्तियाँ पाई जाती हैं—एक आकर्षण और दूसरी विकर्षण। आकर्षण शक्ति-द्वारा परमाणु जुड़कर वस्तु बनती है और विकर्षण-शक्ति-द्वारा परमाणुओं के बिखर जाने से वह वस्तु बिगड़ जाती है। अब प्रश्न यह उठता है कि ये शक्तियाँ कहाँ से और कैसे पैदा हुईं? यदि आदि शक्ति यानी वह गति (motion) जिसको प्रकृति का स्वाभाविक गुण माना है उसी के दो भाग आकर्षण और विकर्षण शक्ति हैं—ऐसा मानने में बड़ी आपत्ति आ जाती है। हमें इन दोनों शक्तियों को समान या असमान मानना पड़ेगा। यदि हम इन दोनों को बराबर मानते तब तो ये विरुद्ध शक्तियाँ होने के कारण कार्यरूप में परिवर्त्तित नहीं हो सकती हैं (Two equal and opposite forces neutralize each other) और यदि इनको हम असमान मानें तो एक को न्यून और दूसरे को अधिक मानना पड़ेगा; इसलिए यदि आकर्षण-शक्ति को हम अधिक या प्रबल मानते तो उसकी कुछ शक्ति विकर्षण-शक्ति के असर में व्यय होकर शेष आकर्षण-शक्ति से प्रकृति कार्य

रूप में सदा परिवर्तित होती रहेगी और विकर्षण-शक्ति-द्वारा उसका बिगड़कर फिर से अपने स्वरूप में आना असम्भव है। यदि हम विकर्षण-शक्ति को प्रबलता और आकर्षण-शक्ति से अधिक मान लें तो प्रकृति का अपने वास्तविक स्वरूप (natural state) से रचना स्वरूप में आना असम्भव हुआ जाता है; इसलिए हम न तो गति-शक्ति को प्रकृति का स्वाभाविक गुण मान सकते हैं और न आकर्षण और विकर्षण को उसके अंश मान सकते हैं। अब यदि प्रकृति को हम स्थिर दशा मे मान लें तो वह स्वयं अपनी स्थिर दशा को अकर्मण्यता (Law of Inertia) के नियमानुसार हटा नहीं सकती; ऐसी दशा में प्रकृति-द्वारा स्वयं रचना का होना असम्भव है और हमको यह मानना पड़ेगा कि किसी अन्य शक्ति ने उस प्रकृति की स्थिरता को हटाया, उसमें गति स्थापित की अथवा उसको गतिमान् किया तब इस सृष्टिरचना का आरम्भ हुआ। और उस शक्ति को पृथक् तथा व्यापक मानने से सृष्टिरचना तथा उसका विध्वंस होना दोनों सम्भव हैं। वह शक्ति कैसी और क्या है? यह एक पृथक् विषय है। परन्तु संसार और प्रकृति का विस्तार और प्रकृति की सूक्ष्मता पर विचार करने से कि वह शक्ति निराकार और सर्वव्यापी है और उसमें चैतन्यता भी है—यह मानना अनिवार्य है। उपर्युक्त कथनानुसार यह सिद्ध हो गया कि केवल प्रकृति से विश्व की रचना असम्भव है अर्थात् इस संसार की रचना के लिए उपादान कारण

प्रकृति और निमित्त कारण किसी चैतन्य शक्ति की जो कि प्रकृति से भिन्न हो मानने की आवश्यकता पड़ती है ।

यदि हम प्रकृति को स्वयं चैतन्य मान लें तो वही सिद्धान्त 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' का आ जाता है; अपितु कई विशेष आपत्तियाँ नवीन-नवीन उपस्थित हो जाती हैं, जिनका निवारण करना असम्भव है । प्रकृति के चैतन्य होते हुए प्राकृतिक पदार्थों में जड़त्व कहाँ से आया यह बतलाना कठिन है —नहीं-नहीं असम्भव है । प्रकृति जड़ व चैतन्य दोनों गुणों में साथ-साथ हो नहीं सकती, क्योंकि ऐसी वस्तु किन्हीं दो वा अधिक वस्तुओं का संघट्ट होना चाहिए । फिर वही कठिनाई आ जाती है कि यह संघट्ट किन-किन वस्तुओं का है और उनके गुण इत्यादि क्या हैं ? अन्त में हमें चैतन्य और जड़ दो वस्तुएँ पृथक्-पृथक् माननी पड़ेंगी; इसलिए प्रकृति को चैतन्य मानना यह कल्पना न्याय-शून्य है । परिणाम यह हुआ कि मानोइज्म (monoism) प्राकृतिक अद्वैतवाद की थियोरी (theory) अर्थात् सिद्धान्त ठीक नहीं । केवल प्रकृति से संसार की रचना बतलाना अयुक्त है ।

अब द्वैतवाद के उस स्वरूप पर एक साधारण दृष्टि डाली जाती है कि जो प्रकृति और जीव को रचा हुआ (created) मानते हैं । प्रश्न यह होता है, 'यदि ईश्वर ने प्रकृति और जीव को अमुक समय में रचा और इससे पूर्व वे न थे तो किस वस्तु से रचा ? यदि कहा जाय कि किसी वस्तु से

नहीं, तब अभाव से भाव होता है ? यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि ऐसा नहीं हो सकता जैसा कि गीता में कहा है :—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्व दर्शिभिः ॥

भ० गी० अ० २ श्लो० १६

अर्थात् कभी असत् का भाव (वर्तमान) और सत् का अभाव (अवर्तमान) नहीं होता । इन दोनों का निर्णय तत्त्वदर्शी लोगों ने जाना है । यही सिद्धान्त कि शून्य से किसी वस्तु का होना या किसी वस्तु का शून्य हो जाना यानी उसका पूर्णतया नाश हो जाना और उसका कुछ भी न रहना असम्भव है । यह सिद्धान्त शून्यवादी आदि कुछेक लोगों को छोड़कर सभी का है* (Nothing can come out of nothing) और संसार में ऐसा देखा भी जाता है । कोई उदाहरण ऐसा नहीं है कि जिसमें शून्य से वस्तु और वस्तु से शून्य होना पाया जाता हो । कुछ लोगों का विवाद है कि उपर्युक्त नियम लौकिक है न कि अलौकिक और ईश्वर के कार्य सबके सब अलौकिक हैं; इसलिए यह नियम ईश्वर के विषय

* ईश्वरीय सृष्टि-रचना-सम्बन्धी नियमों का अनुभव मनुष्य को ईश्वर-निर्धारित संसार के नियमों से अथवा उनके सहारे हो सकता है । जो विवेक हमको स्वाभाविक अथवा किसी गुरु-द्वारा प्राप्त होता है उसकी सत्ता की कसौटी केवल वही नियम हैं जो कि संसार में वर्त्तमान हैं । अन्यथा सत्यासत्य का निर्णय दुर्लभ है—तब यह कहना कि शून्य से सृष्टि-रचना करना ईश्वर का अलौकिक नियम है, प्रमाण-शून्य और ठीक नहीं ।

में घटित नहीं हो सकता। प्रथम तो जिनको लौकिक अथवा प्राकृतिक नियम कहा जाता है वे किसी मनुष्य के निर्धारित नहीं हैं, वे भी तो ईश्वर-निर्धारित नियम हैं। यह भी कहा जाता है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान (क़ादिर मुतलक़, Almighty) है, उसने यदि नेस्त से हस्त किया (created the world out of nothing) तो कोई आश्चर्य की बात नहीं—यह उसकी क़ुदरत है, यह कहना कि ईश्वर बिना सामग्री के सृष्टि-रचना नहीं कर सकता—ईश्वर को मुहताज ठहराता है। प्रश्न तो यह है कि जो ऐसा दावा करते हैं कि ईश्वर ने शून्य से सृष्टि रची तो उनको अपने दावे [पक्ष] को प्रमाणित करना चाहिए; विशेष कर जब कि ऐसा पक्ष सृष्टि-क्रम-विरुद्ध है। केवल कह देने से कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है—वह ऐसा कर सकता है—यह साबित नहीं होता कि उसने सृष्टि को बिना किसी सामग्री के बना दिया है—हम बिना किसी प्रमाण के उनके पक्ष को मानने के लिए बाधित नहीं किये जा सकते। नहीं, नहीं—उसका मानना ही अनुचित होगा जब कि वह मत न केवल सृष्टि-नियम-विरुद्ध है वरन् उसके विरोध में एक दूसरा मत पूर्व से विद्यमान् है जिसका कथन यह है कि ईश्वर ने सृष्टि को प्रकृति से पैदा किया। जो यह कहा जाता है कि हमारे इस बात (सिद्धान्त के) मानने में कि ईश्वर ने जगत् को प्रकृति से पैदा किया—एक आपत्ति यह आती है कि अर्थापत्ति से यह अर्थ निकलता है 'यदि सृष्टि बनाने की सामग्री

न होती तो ईश्वर सृष्टि को पैदा न कर सकता; इसलिए सृष्टि बनाने में ईश्वर प्रकृति (सृष्टि के उपादान कारण) का मुहताज ठहरा। जब कि ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों अनादि हैं और प्रकृति पर ईश्वर का पूर्ण अधिकार है तो यह कहना सर्वथा असंगत है कि यदि ऐसा होता तो ईश्वर मुहताज ठहरता है, ऐसी कल्पना करना ही असत्य है। जब कल्पना ही मिथ्या है तो परिणाम तो दूषित अवश्य होगा (Wrong premises give a wrong conclusion)। मुहताज वह कहा जा सकता है कि जिसके पास कोई वस्तु न हो। जिसके पास सब कुछ मौजूद है वह मुहताज नहीं कहा जाता है। इसके अर्थ तो यह हुए कि अमुक धनी के पास इतना धन न होता तो वह मुहताज कहा जाता, परन्तु जब उसके पास धन मौजूद है तो उसको मुहताज कहना उन्माद है। यदि यह कहा जावे कि ईश्वर की रचना-शक्ति बिना उपादान कारण के सृष्टि-रचना में असमर्थ है, यहीं मुहताजी ईश्वर में आती है। इसका उत्तर यह है कि जो बात कपोल-कल्पित है और असम्भव बात को सम्भव मान रही है उसमें ऐसी आपत्तियाँ अवश्य आवेंगी। इस हुज्जत (विवाद) में एक असम्भव बात को सम्भव मानकर यह वितण्डावाद किया जाता है। बहुतसी ऐसी असम्भव बातें हैं कि जिनको सम्भव मानकर प्रश्न किया जाय कि क्या ईश्वर ऐसा कर सकता है? तो अन्त में यही उत्तर देने पर बाधित होना पड़ेगा कि नहीं। उदाहरण के

लिए दो-एक प्रश्न किये जाते हैं। क्या ईश्वर ख़ुदकुशी (आत्मघात) कर सकता है? क्या ईश्वर किसी पापी मनुष्य को यह दण्ड दे सकता है कि उसको अपने राज्य से निकाल दे? उत्तर यही देना पड़ेगा कि नहीं; क्योंकि जो ख़ुदकुशी कर सकता है वह ईश्वर नहीं और जो ईश्वर है उसकी ख़ुदकुशी होना मान लेना उन्माद है। इसी प्रकार से कोई स्थान कोई दिशा ऐसी नहीं हो सकती कि जहाँ ईश्वर का राज्य न हो, तब राज्य-निकासे का दण्ड देने का प्रश्न एक असम्भव बात को सम्भव मानकर किया गया है; इसलिए उसका उत्तर यही हो सकता है कि ईश्वर ऐसा नहीं कर सकता और यह उत्तर ठीक भी है और इससे ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता अथवा उसके किसी अधिकार में त्रुटि नहीं आती। इसलिए यह मत कि ईश्वर ने जीव और प्रकृति को शून्य से रचा अयुक्त और मानने योग्य नहीं। इस मत के विषय में एक और कठिन प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जो वस्तु हादिस (किसी समय विशेष में रची गई) है वह अवदी, अनादि नहीं हो सकती, इसलिए यदि जीव और प्रकृति हादिस हैं तो वे अवदी नहीं यानी किसी न किसी समय में वे नहीं रहेंगे। इस संसार में हम यही देख रहे हैं और बड़े-बड़े वैज्ञानिक इस बात में सहमत हैं कि सूर्यादि लोक तथा सारा संसार एक समय में नहीं रहेगा और जिस वस्तु से यह बना है उसी वस्तु में परिवर्त्तित हो जावेगा, तब यह कहना कि बहिश्त और

उसके भोग्य-पदार्थ अथवा नरक और तत्सम्बन्धी पदार्थ सदैव के लिए बने रहेंगे प्रमाण-शून्य और युक्ति-रहित है। जब स्वर्ग, नरक अबदी नहीं तो क़यामत के पश्चात् जीवों का निवास-स्थान क्या होगा? और सज़ा-जज़ा की व्यवस्था जो ईश्वर ने क़यामत के दिन सदैव के लिए रक्खी उसका व्यवहार में आना (अमलदरामद) असम्भव है। प्रशंसित सर आलीवर लोज सायंसवेत्ता अपनी पुस्तक (Making of man) मनुष्य-उत्पत्ति नामक में कहते हैं—

"There is no "next" world save Subjectivity. The Universe is one; it is not so much a Sequence as a Co-existence; what we call "the next world" is Co-existent and Simultaneous with this." Pp. 32-33. 5th Ed. अर्थात् विचार से पृथक् कोई अन्य संसार (बहिश्त व दोज़ख़) नहीं है। सारा संसार एक है; आनेवाली दुनिया कुछ नहीं जिसको हम आनेवाली दुनिया कहते हैं वह इस संसार के साथ वर्त्तमान व समकालीन है।

यदि यह कहा जाय कि ईश्वरीय बातों में अक़्ल को दख़ल नहीं है, तब तो बड़ी ही आपत्ति आ जावेगी। घृणित से घृणित बातों और असम्भव से असम्भव कल्पनाओं पर धर्म की मुहर लगाकर उनको प्रचलित करने का साहस कर सकते हैं; भले-बुरे और पाप-पुण्य में निर्णय करना असम्भव हो जावेगा। यह कोई कल्पित विवाद नहीं है वरन् इतिहास बतलाता है कि

समय-समय पर ऐसा होता रहा है। ईश्वर के नाम पर धर्म की छाप लगाकर बुरी से बुरी बातों का प्रचार मनुष्य-समुदाय में किया गया है, मनुष्य का बलिदान ईश्वर के रिझाने के लिए प्रचलित था; साधारण मनुष्यों में नहीं वरन् प्रतिष्ठित पुरुषों में भी, जो ईश्वर के नबी उस समय में माने जाते थे; उन्होंने भी अपने पुत्रों का बलिदान ईश्वर की प्रसन्नता के लिए किया। जीवों के बलिदान की प्रथा को हज़रत ईसा ने आकर उठाया। एक बड़ा समुदाय गोश्त खाने, शराब पीने तथा अन्य इन्द्रियों के भोग-विलास को धर्म का मुख्य साधन मानता था और कदाचित् कुछ लोग अब भी मानते हैं जैसे 'मद्य मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेवच। एते पंच मकाराः स्युर्मोक्षदा हि युगे युगे ॥' मद्य (शराब), मांस, मीन (मछली), मुद्रा (पूरी-कचौरी और बड़े रोटी आदि चर्वण यानि मात्राधार मुद्रा) और पाँचवाँ मैथुन मोक्ष के देनेवाले हैं। इसलिए यह कहकर किसी बात को टाल देना कि ख़ुदा की बातों में मनुष्य-बुद्धि का दख़ल नहीं है और उसकी छान-बीन और कसौटी का ज़रिया मनुष्य के लिए कोई नहीं है—एक बड़ा आपत्ति-जनक और मनुष्य-जाति की अवनति का कारण हो सकता है। परिणाम यह निकला कि सर्वशक्तिमान् इत्यादि शब्दों के ऐसे अर्थ न लेना चाहिए जो बुद्धि-विरुद्ध और युक्ति-शून्य हैं। सर्वशक्तिमान् के यही अर्थ हैं कि इस सृष्टि में जो कुछ है, हुआ और होगा, ईश्वर उन सबको बिना किसी अन्य शक्ति

और सहायता के स्वयं कर सकता और करता है; इसलिए जीव और प्रकृति का हादिस कहना या शून्य से बनना, यह कथन सर्वथा असम्भव और मानने योग्य नहीं है।

दूसरा मत द्वैतवाद के अन्तर्गत यह है कि प्रकृति व पुरुष अथवा जीवात्माएँ और सृष्टि-रचना की सामग्री के अतिरिक्त तीसरी शक्ति की आवश्यकता नहीं। यह मत प्रत्यक्ष-प्रमाण के विरुद्ध है। यह बात प्रत्यक्ष है कि जीव बद्ध और अल्पज्ञ है और वह प्राकृतिक रचना के बन्धन में है, तब यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि जीवों को प्रकृति पर अधिकार है। नहीं, नहीं, जीव को अपने कर्म के फल भोगने में भी स्वतन्त्रता नहीं है क्योंकि यदि जीव को प्रकृति पर अधिकार होता तो वह उसके बन्धन में न पड़ता। यदि जीव को अपने कर्मों के फल भोगने में स्वतन्त्र मान लिया जाय तो यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, क्योंकि पाप-कर्म का फल दुख है और संसार में देखा जा रहा है कि दुख कोई भी स्वतन्त्रता से नहीं भोगता वरन् जीवमात्र दुख से छूटने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु उनका प्रयत्न प्राय: निष्फल होता है और दुख उनको अवश्य भोगना पड़ता है। यदि कहा जाय कि प्रकृति उनको दुख और सुख देती है, तो वह जड़ है उसमें विवेक की सम्भावना नहीं। यदि कहा जाय कि कुछ ऐसे अटल नियम निर्धारित हैं कि जिनके अनुसार जीव स्वयं ही कर्म का फल भोगता है, तब प्रश्न यह होता है कि उन नियमों का नियन्ता कौन

है? अर्थात् उन नियमों के नियन्ता की आवश्यकता होती है। यदि इन नियमों को अनादि माना जाय तो नियम वस्तु न होने से स्वरूप से अनादि नहीं हो सकते, इसलिए उनको जीव वा प्रकृति के गुण या गुणों का प्रादुर्भाव मानना पड़ेगा। प्रकृति जड़ होने से उसमें स्वयं ऐसे नियमरूपी गुणों का होना युक्ति-शून्य है। जीव अनेक, अल्पज्ञ, प्रकृति बन्धन युक्ति-सहित होने से, प्रागुक्त नियम न उसके निर्धारित हैं और न उसके गुणों का प्रादुर्भाव ही हो सकते हैं; इसलिए यह कहना भी ठीक नहीं है कि केवल जीव व प्रकृति से संसार बन गया और जीव व प्रकृति मिलकर उसका सञ्चालन नियम-पूर्वक कर रहे हैं।

अब रहा द्वैतवाद का तीसरा सिद्धान्त कि ईश्वर, जीव, और प्रकृति तीनों अनादि हैं। ईश्वर सृष्टि-कर्त्ता, जीव भोक्ता और प्रकृति केवल साधन मात्र है। यह सिद्धान्त ठीक और माननीय है और इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन वेदों में भी किया गया है—जैसे

'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥१॥

ऋ० मं० १। म० १६४ मं० २०॥

(अर्थ) ब्रह्म और जीव दोनों चैतन्यता और पालनादि गुणों से सदृश व्याप्य भाव से संयुक्त परस्पर मित्रता-युक्त सनातन अनादि हैं; वैसा ही अनादि मूलरूप कारण और शाखारूप कार्य-युक्त वृक्ष—अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न-भिन्न हो जाता है—तीसरा अनादि पदार्थ है। इन तीनों के गुण,

कर्म और स्वभाव भी अनादि हैं । इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है वह इस वृक्षरूप संसार मे पाप-पुण्यरूप फलों के परिणाम रूपी रस को अच्छे प्रकार भोगता है और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को न भोगता हुआ चारों ओर से अर्थात् भीतर-बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है । जीव से ईश्वर व ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न-स्वरूप और अनादि है । अब तक ऋत और सत्य दो का वर्णन आ चुका । इनके अतिरिक्त एक तीसरी चीज़ की भी सृष्टि-रचना के लिए आवश्यकता है; केवल ज्ञान और सामग्री से ही कार्य सम्पन्न होना सम्भव नहीं । उस तीसरी चीज़ का वर्णन आगे आता है ।

तप के अर्थ क्रियात्मक शक्ति, सामर्थ्य के हैं । प्रयोजन यह कि सृष्टि-रचना करने में ईश्वर के अनन्त सामर्थ्य का प्रयोग हुआ जिसका भावार्थ यह हुआ कि ऋत ईश्वरीय ज्ञान, सत्य सृष्टि रचने की सामग्री तथा तप ईश्वरीय सामर्थ्य के आधार पर सृष्टि-रचना हुई । ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत— वेद-मन्त्र के इस टुकड़े का यह अर्थ हुआ कि जैसे इस संसार में हम देखा करते हैं कि एक चित्रकार जिस चित्र को बनाना चाहता है उसका स्वरूप अपने मस्तिष्क मे धारण करता है तब काग़ज़ इत्यादि चित्र बनाने की सामग्री को लेकर अपनी शारीरिक, मानसिक शक्तियों के प्रयोग-द्वारा उस चित्र को बनाकर सम्पन्न करता है । इसी नियम के अनुसार वेद में प्रथम ऋत अर्थात् ईश्वरीय अनन्त ज्ञान का लेख आया है । ऋत के अर्थ

हैं पूर्ण अनन्त ज्ञान---अर्थात् जिस ज्ञान के अन्तर्गत सारी सृष्टि-रचनाओं का ढाँचा, सारे प्राकृतिक नियम, सारी विद्याएँ, वेद-ज्ञान सभी कुछ अनादि काल से स्वयं ही उपस्थित हैं; यही कारण है कि उस ज्ञान के सम्बन्ध में कोई ऐसा विशेषण नहीं आया कि जिससे यह अनुमान किया जावे कि ईश्वर को अपने ऋत (ज्ञान) को ठीक करने या पूर्ण करने में विचार इत्यादि किसी प्रयत्न की आवश्यकता पड़ी हो। इसके पश्चात् सृष्टि-रचना की सामग्री 'सत्य' का लेख आया है। इसके लिए भी कोई विशेषण नहीं आया। इससे स्पष्ट होता है कि यह सत्य कोई ऐसी वस्तु नहीं कि जिसके विषय में यह कहा जा सके कि वह काला-पीला इत्यादि रंग-रूपवाला है अथवा उसमें कोई गुरुत्व इत्यादि का विशेष गुण है। वह अव्यक्त केवल सत् माना है। इसको हम मैटर (matter) भी नहीं कह सकते क्योंकि मैटर की परिभाषा वैज्ञानिकों ने यह की—(Matter is that which has weight) वह वस्तु जिसमें गुरुत्व है, मैटर है; परन्तु गुरुत्व आकर्षण-शक्ति का परिणाम है और आकर्षण, विकर्षण-शक्ति-रचना से पूर्व हो नहीं सकता। इस सत् को तो हम परमाणुओं (atoms or electrons) का समूह भी नहीं कह सकते, क्योंकि पश्चिमीय वैज्ञानिकों का अब यह मत है कि अटम्स व इलेक्टरन्स भी संयोगिक हैं। संयोगिक वस्तु सृष्टि-रचना के पश्चात् ही हो सकती है, वह अनादि कदापि नहीं। नवीन वैज्ञानिक मन्तव्य इसके विषय में यह है कि

(matter) प्रकृति और शक्ति (energy) परस्पर रूपान्तर है। हमारे शास्त्रों में इस सत् की व्याख्या यों आई है 'सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः॥' सांख्य अ० १ सूत्र ६१॥ यहाँ प्रकृति शब्द सत् शब्द का पर्यायवाची है, और इस सूत्र में 'सत्' शब्द से प्रकृति की उस अवस्था से प्रयोजन है कि जिसको बनना कहा जाता है। 'रज' पालन-पोषण अवस्था का नाम है अर्थात् प्रकृति की वह दशा जब सृष्टि बन चुकने पर नियमानुसार उसका पालन होता है; 'तम' वह अवस्था है जब यहाँ प्रलय के लिए बिगड़ना ही बिगड़ना होता है, यहाँ तक कि प्राकृतिक संसार विकृत दशा के कारण रूप में आ जाता है। फिर उस समय न बनना है न बिगड़ना और न पालन-पोषण है—प्रकृति की निज दशा है; उस समय इसको केवल सत् के नाम से बोधित कर सकते हैं—इसी को साम्यावस्था कहते हैं। इन तीन अवस्थाओं को शुद्ध, मध्य और जाड्य भी कहते हैं। अब ऋत और सत् के पश्चात् तप आया अर्थात् उस सर्वशक्तिमान् की अनन्त सामर्थ्य से सत् की साम्यावस्था—शक्तिहीन दशा—दूर हुई और उसमें क्रियात्मक शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। यहाँ पर दो विशेषण जो तप के लिए आये हैं वेद की शिक्षा-प्रणाली की विलक्षणता विदित करते हैं। इद्धात् (ज्ञानस्वरूप) अभि (पूर्ण) ये दो शब्द हैं। सम्भवतया मनुष्य को यह भ्रम हो जावे कि तप से प्रयोजन किसी जड़-शक्ति (Blind force) से है और ऋत से

प्राकृतिक अनादि प्राकृतिक नियमों (eternal laws of Nature) से प्रयोजन है, और इन्हीं की सहायता से स्वयं संसार-रचना अनायास (by chance) होती है, इसलिए यह विशेष वर्णन आया है कि वह सामर्थ्य-पूर्ण ज्ञानस्वरूप अर्थात् वह ऐसी शक्ति है कि जो स्वाभाविक ज्ञान-सम्पन्न है—अथवा यों कहिए कि वह शक्ति पूर्ण ज्ञान-स्वरूप की है कि जिसने अपने ऋत सर्वज्ञता के आधार पर इस सृष्टि को रचा, इसके ईक्षण-मात्र से यह सृष्टि उत्पन्न हुई। यदि अनायास नहीं तो सृष्टि-रचना का कोई प्रयोजन अवश्य है। हमारा अनुभव भी बतलाता है कि ज्ञान-स्वरूप का कार्य कदापि निष्प्रयोजन (arbitrary) नहीं हो सकता। इस प्रयोजन को 'द्वा सुपर्णा सयुजा' इत्यादि वेद-मन्त्र वतलाता है जिसका वर्णन इस पुस्तक में ऊपर आ चुका है। इसी रचना-द्वारा जीव अपने भले-बुरे कर्मों के फल भोगता, अपने कर्तव्य-पालन-द्वारा अभ्युदय व निः-श्रेयस् प्राप्त कर परम पद के आनन्द का भागी बनता है। उसने हमारे लिए न केवल अद्भुत भोग्य पदार्थ ही उत्पन्न किये और हमको इनके भोगने की सामर्थ्य दी वरन् हमारे लिए 'ऋत' वेद का भी प्रकाश किया। सबसे प्रथम गुरु हमारा वही है 'स पूर्वेषामपिगुरुः कालेनानवच्छेदात्।' योग० समाधिपाद सूत्र २६॥ यहाँ पर बड़े महत्त्वपूर्ण आस्तिकवाद की अपूर्व मीमांसा सृष्टि-रचना के रूप में की है। यही एक ऐसा विषय है कि जिसकी भूल-भुलैयों में पड़कर बड़े-बड़े वैज्ञानिक,

फिलासफर्स सन्मार्ग से पृथक् हो संदिग्धवादी नास्तिक हो जाते हैं।

अब इससे आगे वेद-मन्त्र सृष्टि-रचना का क्रम बतलाता है कि इसके पश्चात् रात्रि उत्पन्न हुई अर्थात् ऋत, सत् और तप---इन सृष्टि-रचना के तीनों साधनों---के प्रयोग से रात्रि का प्रादुर्भाव हुआ। यहाँ पर शङ्का होती है कि अभी तो परमाणुओं के बनने तक का कथन नहीं आया---सूर्य इत्यादि की उत्पत्ति का तो कहना ही क्या। इसका वर्णन अभी आनेवाला है, फिर रात्रि उत्पन्न होने से क्या प्रयोजन? यदि कहा जावे महारात्रि अर्थात् प्रलयावस्था से प्रयोजन है तो प्रलय तो था ही, प्रलय-समाप्ति पर सृष्टि-रचना का आरम्भ हुआ करता है।

यहाँ पर यदि रात्रि शब्द का अर्थ प्रलय-काल है तो मन्त्र के उपर्युक्त भाग के दूसरे ही अर्थ करने होंगे अर्थात् ईश्वर के तप-सामर्थ्य से 'ऋतं' वेद, ईश्वरीय ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ। सत्रूपी प्रकृति से सृष्टि बनी, उसी तप से प्रलय भी हुई अर्थात् ईश्वर की सामर्थ्य से ही सृष्टि की रचना और उसी सामर्थ्य से सृष्टि का विध्वंस भी हुआ। भावार्थ यह कि ईश्वर की सामर्थ्य से वेदों का प्रकाश, सृष्टि-रचना की सामग्री का प्रादुर्भाव और ईश्वरीय सामर्थ्य से ही सृष्टि-रचना और फिर अन्त में उसका विध्वंस होता है।

परन्तु जब हम पूर्वोक्त वेद-मन्त्र से सृष्टि-रचना का क्रम दिखलाते और तत् का अर्थ तत्पश्चात् करते हैं तो पूर्व-वर्णित

शङ्का का समाधान आवश्यक हो जाता है । यहाँ रात्रि का अर्थ उस अवस्था से कहा है कि जो वास्तव में न तो महा प्रलय अवस्था ही रही और न अभी सृष्टि रूप में ही आई । प्रलय के विषय में महर्षि मनुजी महाराज लिखते हैं—

"आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥

मनु० अ० १ श्लो० ५ ॥

यह विश्व (महाप्रलय काल में) प्रकृति रूप रहा और लक्षणों से रहित तथा तर्क-द्वारा और स्वरूप से जानने के अयोग्य सब ओर से निद्रा की सी दशा में था । परन्तु यहाँ मन्त्र में रात्रि से उस दशा से प्रयोजन है कि जब सत् (प्रकृति) में उस सृष्टिकर्त्ता की सामर्थ्य से उसकी साम्यावस्था में विषमता पैदा हो गई तो उसकी दशा जो अब तक व्यवहार-शून्य अकथनीय थी, न रही; अर्थात् वह व्यवहार-योग्य शक्ति-सम्पन्न हो गई परन्तु अभी तक व्यावहारिक रूप में नहीं आई । प्रलय में सत् प्रायः मृतक सा था अब उसमें एक प्रकार का जीवन आ गया और उसकी दशा सुषुप्ति दशा-तुल्य हो गई । जैसे रात्रि घोर तम-युक्त व्यवहार-रहित दशा का बोध कराती है परन्तु वह सर्वाङ्ग व्यवहार-शून्य दशा नहीं कही जा सकती; इसी प्रकार की दशा का बोधक शब्द रात्रि यहाँ प्रयोग में आया । इस अलौकिक रात्रि से वर्तमान समय की तरह दिन के अभाव-रात्रि से प्रयोजन नहीं ।

तत्पश्चात् प्रकृति की साम्यावस्था टूटने के कारण उसमें हलचल (motion) उत्पन्न हुई जिसके कारण प्रकृति महत्तत्त्व रूप *में परिवर्तित हो गई । इसी महत्तत्त्वमय आकाश को 'समुद्रः अर्णवः' कहा है अर्थात् परमाणुमय महान् समुद्र; इस समुद्र से पृथ्वी पर के समुद्रों से प्रयोजन नहीं क्योंकि अभी तक सूर्य इत्यादि लोक-लोकान्तर कुछ भी नहीं बने हैं, परन्तु प्रयोजन यह है कि प्रकृति में परिवर्त्तन हुआ और उसने एक ऐसा रूप धारण किया जो अभी तक (Solid, liquid, gaseous) जल, वायु, पृथ्वीरूप में कुछ भी नहीं है परन्तु परम सूक्ष्म वस्तु बन गई और सारा आकाश-पोलापन (space) उससे भरा पड़ा है, इसी को समुद्रः अर्णवः कहा है ।

'समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत ।
अहो रात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥'

अब तक सृष्टि-रचना के साधन तथा उसकी सामग्री का वर्णन किया गया और यह भी बतलाया कि वह किस क्रम से कार्य-रूप में लाने के योग्य बनाई गई, और वह कौन और कैसी शक्ति है कि जिसने यह सब क्रिया की ? अब इसके आगे दूसरे मन्त्र में सृष्टि-रचना का वर्णन किया जाता है । जब प्रकृति ने महत्तत्त्वरूप धारण कर लिया तब संवत्सर

* यह महत्तत्त्व जो कि ईथर (Ether) से भी सूक्ष्म है—क्योंकि ईथर एक प्राकृतिक व्यावहारिक वस्तु मानी गई है, परन्तु महत्तत्त्व सृष्टि-रचना की सामग्री मात्र है—

उत्पन्न हुआ । संवत्सर काल की नियत अवधि को कहते हैं; जैसे व्यवहार में वर्ष इत्यादि हैं । संकल्प में भी संवत्सर की गणना आई है। यहाँ अभी सूर्य, चन्द्र इत्यादि तथा पृथ्वी उत्पन्न नहीं हुई इसलिए किसी व्यावहारिक वर्ष, महीना काल का वर्णन असम्भव है वरन् यहाँ ब्रह्म-दिन से प्रयोजन है अर्थात् वह नियमित काल कि जो सृष्टि के बनने के आरम्भ से उसके नाश को प्राप्त होने तक हुआ करता है— (उसका) आरम्भ हुआ । जब सब सामग्री सृष्टि बनने की ठीक-ठीक दशा में आ गई तब सृष्टि बनना वास्तविक रूप से प्रारम्भ हो गया, प्रकृति के परमाणु विविध रूप धारण करने लगे, पञ्चतत्त्वादि उत्पन्न हुए, उनसे लोक-लोकान्तर बने, फिर चराचर जगत् की रचना हुई अर्थात् जिसको ब्रह्म-दिन कहते हैं उसका प्रादुर्भाव हुआ । वाष्पवाद के अनुसार इसका वर्णन यों होता है कि ज्यों-ज्यों उस परमाणुमय महान् समुद्र में (अर्णव) हलचल होती गई त्यों-त्यों वह महान् समुद्र उस गति के कारण उत्तरोत्तर सूक्ष्म से स्थूल रूप धारण करता गया; यहाँ तक कि प्रकृति ने वाष्प-रूप (nebular) धारण किया और फिर शनैः-शनैः गाढ़ी पड़ती गई और उसी से आकर्षण, विकर्षण गति, प्रतिगति (centripetal and centrifugal forces) नियमानुसार सूर्यमण्डल बनकर अपने वर्तमान रूप में कार्य करने लगा जिसका परिणाम दिन-रात्रि है ।

शंका यह होती है कि संवत्सर तो ब्रह्म-दिन तथा ब्रह्म-

रात्रि दोनों को मिलाकर कहेंगे तो रात्रि तो थी ही उसके पश्चात् ब्रह्म-दिन आरम्भ हुआ इसलिए संवत्सर का उत्पन्न होना किस प्रकार कहा जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि वास्तव में ब्रह्म-दिन ही ऐसा है कि जो ज्ञेय है और जिसका वर्णन सम्भव है; ब्रह्म-रात्रि तो केवल ब्रह्म-दिन के अभाव को कहते हैं। वास्तव मे, वह प्रागुक्त मनुजी के कथनानुसार अकथनीय और अज्ञेय है। एक प्रकार से व्यावहारिक संवत्सर का भी यही हाल है। दिवस के अभाव को रात्रि कहते हैं, इसलिए सृष्टि-रचना के आरम्भ को संवत्सर का उत्पन्न होना कहा है। सृष्टि-रचना आरम्भ होने के पश्चात् क्रमशः अहोरात्रि (दिन-रात) उत्पन्न हुए यानी पृथ्वी, सूर्य इत्यादि लोक-लोकान्तर की रचना से दिन-रात्रि का भेद-भाव उत्पन्न हुआ; क्योंकि जैसे पृथ्वी अपनी कीली पर घूमती है तो उसके जिस भाग पर जितने समय तक सूर्य का प्रकाश पड़ता वही दिवस और इसके विपरीत का नाम रात्रि है।

यह स्वयं प्राकृतिक नियमानुसार चल रहा है। कोई विशेष चैतन्य शक्ति इसकी शासन-कर्ता नहीं है और उस शक्ति से हमारा कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। जितना चैतन्य वा जड़ जगत् है उसका निर्माता वा शासन-कर्ता परमात्मा है। सूर्य, चन्द्र, पृथिव्यादि लोक-लोकान्तर उसकी सत्ता से स्थिर और उसी के नियमों के अधीन कार्य कर रहे हैं। जीवों को उनके कर्मानुसार सुख-दुख का देनेवाला वही है। जैसे राजा का सारा प्रबन्ध उसके राज्य

में हुआ करता है—यथा, नहरें, सड़कें निकालना, उनकी रक्षा करना, अपनी प्रजा में न्यायालय स्थापित करना, सज्जनों की रक्षा करना और दुष्टों को दण्ड देना इत्यादि-इत्यादि इसी प्रकार इस जगत् का स्वामी सर्वशक्तिमान् न्यायकारी ईश्वर इस जगत् को वश में कर उस पर शासन कर रहा है। यह मत समझो कि यह जड़ जगत् मनुष्य के पाप-पुण्य सभी कर्मों का फल क्या देगा, इसलिए हम जो चाहें करें—राजा और समाज के अतिरिक्त हमारा शासन-कर्त्ता कोई नहीं। मन्त्र कहता है नहीं! नहीं! विश्व का शासन-कर्त्ता कोई और ही है जो सर्वज्ञ सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् है, जिसने जगत् को रचा है। राजा और समाज बिरादरी की व्यवस्था से चल रहे हैं। आप छल, छिद्र, ख़ुशामद, रिश्वत, आदि से बच भी जावें परन्तु ईश्वर की व्यवस्था से कदापि बच नहीं सकते। वशी शब्द से इसी महत्त्व को दिखलाया है इस प्रकार वशी शब्द गूढ़ार्थ वाचक है। जैसे किसी राज-प्रबन्ध के सारे के सारे कर्मचारी राजपुरुष रूपी केन्द्र शक्ति के अधीन हुआ करते हैं इसी प्रकार इस सारी अपार सृष्टि में जो ईश्वरीय नियम कर्मचारियों का कार्य कर रहे हैं वे एक अलौकिक शक्ति के वशीभूत हैं। यहाँ पर यह प्रश्न कदाचित् उपस्थित होता है कि मन्त्रों में कर्मों का फल देने का वर्णन तो आया ही नहीं फिर यह अर्थ क्यों और कैसे किया गया? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि वेदों की प्रणाली यही है, एक वा दो शब्द गूढ़ार्थवाची संकेत मात्र

से आ जाते हैं कि जिनके अन्तर्गत बहुतसा भावार्थ रहा करता है जैसे ओ३म्, हिरण्यगर्भः इत्यादि शब्द हैं। इसी प्रकार जब वशी शब्द पर विचार किया जाता है कि यह सारा विश्व, जिसके अन्तर्गत सारे जीव विविध योनियों में उपस्थित हैं और जिसके अन्दर उनके सब भोग्य पदार्थ भी विद्यमान हैं और ईश्वर के वश अर्थात् उसके अधिकार में भोग्य, भोग, भोक्ता तीनों हैं और कोई भी कर्म बिना फल के नहीं रहता (No act without its consequences is a universal law.)। संसार के सारे कार्य किसी न किसी नियम के अधीन ही हुआ करते हैं चाहे वह नियम लौकिक हो अथवा अलौकिक और सारे नियमों का अन्तिम आधार वही निराधार है और उसी के राज-प्रबन्ध के वशीभूत यह सारा विश्व है इसलिए वही कर्मों का फल-दाता है। यह भावार्थ "विश्वस्य मिषतो वशी" से स्पष्ट है। ऊपर कहे हुए भावार्थ को साक्षात् करने के लिए जब हमारा चित्त ईश्वरीय शासन की सांसारिक घटनाओं की ओर जाता है और हम उसके राज-प्रबन्ध को देखते हैं कि एक ओर तो सूर्य, चन्द्र इत्यादि हमको प्रकाश पहुँचा रहे हैं हमारे जीवनाधार बने हैं, दूसरी ओर वायु हमारी प्राण तथा स्वास्थ्य-रक्षा कर रही है। पृथ्वी नाना प्रकार के फल-फूल तथा अन्न उत्पन्न कर हमको षट्रस भोजन पहुँचाती है, सर्वोत्तम मनुष्य-योनि का लाभ हमको उपलब्ध है, जिसके द्वारा लौकिक और पारलौकिक उन्नति की पराकाष्ठा को हम पहुँच

सकते हैं। यह ईश्वर-प्रदत्त मानुषी बुद्धि की विचित्रता है कि हमने जल, थल और वायुमण्डल की सैकड़ों कोस की यात्रा करनेवाले यान बना रक्खे हैं। पनडुब्बी, स्टीमर, रेल, मोटर और हवाई जहाज़ सब मानुषी बुद्धि के आविष्कार हैं। दूसरी ओर जब हमारे सन्मुख अन्य प्रकार की भयानक घटनाएँ आ उपस्थित होती हैं जैसे दुर्भिक्ष, भूकम्प, अतिवृष्टि, महामारी, विशूचिका, घोर युद्ध, तब हम हक्के-बक्के बन जाते हैं, उनके निवृत्त करने में अपनी मानसिक, शारीरिक सब प्रकार की शक्तियों को असमर्थ पाते हैं और वह बुद्धि, जिस पर हमें बड़ा नाज़ है, इन दुर्घटनाओं से बचाने में कर्त्तव्य-विमूढ़ हो जाती है। सारांश यह कि तीनों प्रकार के दुःख अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक भी एक बड़ी मात्रा में इस संसार में विद्यमान हैं।

एक ओर मनुष्य-योनि दूसरी ओर प्रोटोप्लाज्म (जो कि सर्व योनियों का वीर्यरूप है और जिसमें अभी किसी कर्मेन्द्रिय या ज्ञानेन्द्रिय का प्रादुर्भाव नहीं हुआ है) इन दोनों के मध्य में अगणित नाना प्रकार की भोग-योनियाँ विद्यमान हैं। एक ओर पर्नालों के कुडौल कीड़े चींटियों से चुने जाकर दुःसह दुःख से पीड़ित हो शरीरांत को पहुँच रहे हैं; दूसरी ओर सुन्दर फल-फूलों से सुसज्जित वृक्षों पर, अथवा मीठे निर्मल जल की बहती हुई नदियों और झीलों के किनारे, रङ्ग-विरङ्गे अति शोभायमान पक्षिगण सुरीली आवाज़ से किलोल कर रहे हैं। यह तो हुआ संसार की भोग्यावस्था का दृश्य, अब कर्मावस्था

की ओर देखिए। एक ओर वह मनुष्य-समुदाय दृष्टिगोचर होता है कि जिसके घृणित कर्मों को देखकर त्राहि-त्राहि करना पड़ता है। ये दुराचारी, आलसी, पर-धन और पर-मन-हरण में ऐसे प्रवीण होते हैं कि, चाहे जाति और धर्म रसातल को जाय, उनका स्वार्थ पूरा होना चाहिए। सहस्रों मनुष्य ऐसे हैं जिनका हृदयव्याघ्रादि हिंसक जन्तुओं से भी अधिक कठोर है। डाका डालने के समय जलते हुए फ़लीतों से स्त्री-पुरुषों की उँगलियाँ तथा उनके गुप्त स्थान जलाकर बर्छियों की पैनी-पैनी नोंकों से उनके शरीर के मर्मस्थान छेद-छेदकर पूछते हैं कि बताओ तुमने धन कहाँ गाड़ रक्खा है। मलावार और कोहाट की करुणामय दुर्घटनाओं को स्मरण कर किसको रोमाञ्च नहीं होता। छल, छिद्र, काम, क्रोध, मोह और लोभमय सारा संसार हो रहा है जिसको देखकर पाश्चात्य विद्वानों में एक मत निराशावादियों का स्थापित हो गया है। दूसरी ओर जब हम देखते हैं तो अनेक धर्मात्मा, साधु, सज्जन, सदाचारी, परोपकारी, महानुभाव हैं, जिनके दर्शनों से नेत्र तृप्त हो जाते हैं; जिन्होंने सैकड़ों अनाथालय, विद्यालय, औषधालय और धर्मशालाएँ स्थापित कर रक्खी हैं। सहस्रों पुरुष विद्यारत, धर्मरत, साक्षात् परोपकार की मूर्त्ति बने हुए हैं और संसार के दुःख-निवारणार्थ अपना तन, मन, धन, सब निछावर कर रक्खा है; मनुष्य का तो कहना ही क्या चींटी तक को दुःखी नहीं देख सकते। यह हुई संसार की कर्मावस्था। कर्मावस्था

और भोग्यावस्था का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कायिक, वाचिक, और मानसिक कोई भी कर्म निष्फल नहीं और कोई भी फल बिना कर्म के नहीं, चाहे यह परिणाम तत्काल हो और चाहे कालान्तर में। परिणाम यह निकला कि दर्शित कर्म-अवस्था और भोग्यावस्था तथा उस राजराजेश्वर की व्यवस्था को देखकर हम पर यह प्रकट हो जाता है कि हम कर्म करने में स्वतन्त्र और फल भोगने में परतन्त्र हैँ—उस अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान की सर्वग्राही न्याय-व्यवस्था के वशीभूत हैं। उसके नियमों के पालन में भलाई और उल्लङ्घन में अधोगति है।

"मिषतो वशी"—सहज स्वभाव से जगत् को वश में किया हुआ है। सहज स्वभाव का गूढ़ार्थ यह है कि जैसे पलक स्वभाव से खुलते व बन्द होते हैं, रुधिर का सञ्चालन शरीर में बिना किसी प्रयत्न के होता है, प्राण, अपान सोने में भी कार्य करते हैं इसी प्रकार ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होने के कारण बिना किसी परिश्रम, प्रयत्न अथवा बिना किसी साक्षी आदि की आवश्यकता और बिना किसी की सहायता के अपना सारा राज-काज सहज स्वभाव से करता है—

जब हम विचार करते हैं तो स्वयं यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सहज स्वभाव क्यों कहा गया। इसका उत्तर खोजने में प्रथम यह विचार होता है कि स्वाभाविक कार्य के लक्षण

क्या है? उत्तर मिलता है कि स्वाभाविक कार्य वह है कि जिसके करने में पुरुषार्थ विचार व प्रयत्न आदि कष्ट न सहने पड़ें और किसी साधन की सहायता की आवश्यकता प्रतीत न हो जैसे मनुष्य में आँखों का खुलना और मिचना स्वाभाविक है। विचार करने की आवश्यकता होती है कि उस परमात्मा में वे गुण और शक्तियाँ कौन हैं जिनके अद्भुत होने के कारण वह इस अपार संसार का शासन सहज स्वभाव ही से अर्थात् बिना प्रयास कर रहा है। राजा को न्याय करनेके लिए साक्षियों की आवश्यकता पड़ती, उसके कथन में सत्यासत्य के विवेकार्थ माथापच्ची करनी पड़ती है। यदि राजा सर्वज्ञ होता तो उसको इसकी कुछ आवश्यकता न थी। ईश्वर सर्वज्ञ है, इसलिए उसको न्याय करने में किसी विचार अथवा साक्षी की सहायता की आवश्यकता नहीं। राजा को राज्य-प्रबन्ध तथा दण्ड देने के लिए कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ती है। यदि राजा सर्वशक्तिमान् होता तो उसको आवश्यकता न थी; ईश्वर सर्वशक्तिमान् है इसलिए उसको किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं। एक इंजीनियर को एक यन्त्रालय के चलाने और ठीक रखने के लिए साधनों तथा अन्य मनुष्यों की आवश्यकता होती है, ईश्वर सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् है इसलिए उसको किसी साधन और अन्य पुरुष की सहायता की आवश्यकता नहीं, इत्यादि-इत्यादि विचारों से हमको यह प्रकट हो जाता है कि यहाँ पर सहज

स्वभाव शब्द उस परमात्मा की सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता और सर्वशक्तिमत्ता का ज्ञान हमको कराता है, दूसरे सहज स्वभाव के भाव को स्पष्टीकरण करने में ईश्वर के प्रति व्यभिचारी होने से बचते हैं। जब कि हम ईश्वर को अखण्ड, एक रस, इत्यादि मानते हैं और साथ ही साथ यदि हमारे विचार यह भी हों कि परमात्मा को भी सृष्टि-रचना अथवा उसके राज्य-प्रबन्ध के लिए उन अल्पशक्ति मनुष्यों की भाँति विशेष उद्योग करना पड़ता है तब इन दोनों विचारों में व्यभिचारता आती है; इसके निवारणार्थ "मिषतः" शब्द आया है। जब मनुष्य को यह ज्ञात हो जाता है कि वह एक ऐसे राजराजेश्वर के राज्य में बसता है कि जो न्यायकारी, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापक है, तब यह बात उसके हृदय में अंकित हो जावेगी कि ऐसे राजा की न्याय-व्यवस्था से वह कदापि बच नहीं सकता और उसको अपने कर्मों का फल अवश्यमेव भोगना पड़ेगा। राजा और समाज तो मानसिक पापों की न्याय-व्यवस्था स्थापित ही नहीं कर सकते हैं, परन्तु उस सर्वज्ञ राजराजेश्वर की न्याय-व्यवस्था से हमारा कोई भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष शारीरिक अथवा मानसिक कर्म बच नहीं सकता; यदि उसके नियमों का किञ्चिन्मात्र भी उल्लंघन होगा तो उसको दुःख-रूपी दण्ड अवश्यमेव भोगना पड़ेगा और यदि उसके नियमों को पूर्णतया पालन करते रहेंगे तो मनुष्यरूपी देह के चारों फल (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) उप-

लब्ध हो सकते हैं अर्थात् अभ्युदय व निश्रेयस् दोनों को प्राप्त कर सकते हैं। पूर्वोक्त वेद-मंत्रों की व्याख्या से स्पष्ट होता है कि सृष्टि कैसे और किस क्रम से और किसने रची। यह चित्र भी भले प्रकार हृदय में अंकित किया गया है कि इस सारी सृष्टि पर वही सृष्टि-कर्त्ता शासन भी कर रहा है। जैसे इस पृथ्वी पर राजा और महाराजा अपनी अपनी प्रजा का पालन-पोषण करते हैं, दुष्टों को दण्ड श्रेष्ठों की रक्षा का उपचार करते हैं, इसी प्रकार वह राजराजेश्वर सारे विश्व के जीवों पर जो कि उसकी प्रजा हैं न्यायपूर्वक शासन कर रहा है, प्रत्येक जीव को उसके कर्मानुसार फल दे रहा है, परन्तु हमारा अनुमान बतलाता है कि सृष्टि की आदि से ही जीवों में सुख-दुःख अवश्य विद्यमान है। कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई जीव सर्वोत्तम ज्ञान को प्राप्त होकर संसार के सारे सुखों को भोग रहा है, कोई जीव पशु-पक्षी, कीट-पतंग, आदि निकृष्ट योनियों में पड़ा दण्ड भोग रहा है। मनुष्य-योनि में भी सुख-दुःख, श्रेष्ठता और निकृष्टता के भेद-भाव प्रत्यक्ष पाये जाते हैं। आदि सृष्टि में जब इन जीवों ने कोई अच्छा-बुरा कर्म नहीं किया था तो यह भेद-भाव क्यों? ईश्वर के न्यायपरायण होने में संशय डालता है। इस प्रकार की शंका सम्भव ही नहीं वरन् इसका घोर आन्दोलन पृथ्वी के बड़े से बड़े भाग में मचा हुआ है। सारे यूरोप व अमेरिका आदि देशों के विद्वानों ने इस प्रश्न को बड़े ज़ोर के साथ उठाया है और ईसाई तथा अन्य मतावलम्बी विद्वान् उसको

अब तक इसलिए हल नहीं कर सके कि वे सृष्टि-रचना केवल एक बार मानते और जीव के पुनर्जन्म के चक्र को नहीं मानते। इसका परिणाम यह हुआ और हो रहा है कि नास्तिकवाद बढ़ रहा है।

हरबर्ट स्पेन्सर इत्यादि बड़े-बड़े फ़िलासफ़र इस प्रकार की शंकाओं के सन्तोष-जनक समाधान न होने से नास्तिक बन बैठे। इसी शंका का समाधान अगले मंत्र में किया गया है।

"सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथोस्वः॥ ३॥ ऋ० अ० ८ अ० ८ व० ४८॥"

सूर्य्य, स्वप्रकाशित लोक, चन्द्र, दूसरों से प्रकाशित लोक, पृथ्वी, प्रकाशरहित लोक (जो कि प्रकाश के लिए पूर्वकथित सूर्य-चन्द्र दोनों लोकों के आश्रित है) "दिवम्" इन सबका जो प्रकाश है, अन्तरिक्ष अर्थात् इन सारे के सारे लोक-लोकान्तरों के मध्य का जो अवकाश है सब ईश्वर ने रचा। स्वः, जो कुछ सारे आकाश में है अर्थात् सारी सृष्टि ईश्वर ने रची—"यथापूर्वमकल्पयत्" जैसी कि पहिले कल्प में रची थी अर्थात् इस सृष्टि-रचना से पहिले रची थी।

सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथ्वी इत्यादि सारे ग्रह-उपग्रह सब उसी के रचे हुए हैं। उनके प्रकाश आदि गुण भी उसी के (सृष्टि-रचना के) नियमानुसार इनको प्राप्त हुए हैं। इनके मध्य में जो अन्तरिक्ष है अर्थात् एक की दूसरे से दूरी वह भी उसी की निर्माणित है। अकस्मात् नहीं, सारे का सारा सूर्य्यमंडल

अथवा यों कहिए कि जितने सूर्य्यमंडल सारी सृष्टि में हैं उनकी चाल के अन्तर्गत ग्रह-उपग्रहों की चाल आकर्षण, विकर्षण, शक्तियों के आधार पर है और इनके संचालनार्थ तथा इन शक्तियों के परस्पर व्यवहारार्थ यह आवश्यक था कि इनकी एक दूसरे से दूरी और दूरी के बीच का अवकाश ठीक-ठीक निर्माणित करके रक्खे जावें, और इनकी परस्पर की गति प्रतिगति के लिए भी इस दूरी के निर्माण की इस प्रकार से आवश्यकता थी जैसी कि विविध यन्त्रालयों में (इञ्जन इत्यादि) विविध यंत्रों को निर्माण कर रक्खा जाता है। मंत्र बतलाता है कि इन लोक-लोकान्तरों की दूरी भी ईश्वर ने नियमानुसार ही रक्खी है। अनायास नहीं—अन्त को यह भी बतला दिया कि संसार में दृश्य-अदृश्य जो कुछ है सब उसी का रचा हुआ है।

"यथापूर्वमकल्पयत्" जिसका अर्थ है कि सूर्य्य चन्द्रमा आदि सारी चीज़ें पूर्व की तरह पैदा कीं। इस सृष्टि की आदि के पूर्व एक दूसरी ही सृष्टि की (इससे पूर्व) रचना से प्रयोजन है, जिसका विस्ताररूप से यह अर्थ है कि जैसे इस समय में ईश्वरीय अन्याय व्यवस्थानुसार जीवों के सुख-दुःख तथा अन्य भेद-भाव दिखलाई देते हैं उसी प्रकार से पूर्व सृष्टि में थे और जब कि वेदों के विषय में यह सिद्धान्त है कि वेद ईश्वर ने आदि सृष्टि में अग्नि, वायु आदि ऋषियों के द्वारा मनुष्यों के हितार्थ उत्पन्न किये, "सपूर्वेषामपिगुरुः कालेनानवच्छेदात्" (योग० समाधि पाद सू० २६) सब गुरुओं का आदि गुरु परमेश्वर है जिस पर

काल का भी असर नहीं होता है, तो यह परिणाम निकलता है कि पूर्व सृष्टि में भी इसी प्रकार ईश्वरीय ज्ञान (वेद) मनुष्यों को इसी प्रकार दिया गया और तब भी मनुष्यों को यही उपदेश "सूर्याचन्द्र" इत्यादि किया गया जिसका परिणाम यह निकला कि उससे भी पूर्व ऐसा ही हुआ। सारांश यह कि इसी प्रकार ईश्वर, सृष्टि को अनादि काल से बनाता-बिगाड़ता चला आता है और जीवों को उनके कर्मानुसार फल भुगाता है अर्थात् सृष्टि प्रवाह से अनादि और जीव के कर्म अनादि हैं और इसी लिए "यथा-पूर्वमकल्पयत्" के साथ कोई संख्यावाचक शब्द एक भी नहीं आया। इसकी कोई अवधि नियत करना भी तर्क और बुद्धि के विपरीत है। इस प्रकार तर्क-प्रमाण से भी सृष्टि-रचना तथा विध्वंस होने का चक्र, प्रवाह से अनादि सिद्ध होता है। इससे प्रागुक्त संशय के निवारणार्थ कि ईश्वर ने "सृष्टि क्यों रची" और आदि सृष्टि में जीवों को विविध योनियाँ क्यों दीं, और उनको सुखी-दुखी क्यों बनाया? यह मंत्र बतलाता है कि सृष्टि प्रवाह से अनादि है और जीवों के कर्म भी अनादि हैं। जब सृष्टि प्रवाह से अनादि है तब यह प्रश्न बनता ही नहीं कि जीव जब प्रथम-प्रथम पैदा हुए तब उनके शुभाशुभ कर्म न थे। इससे एक बात और भी निकलती है कि जीव शरीरान्त तो क्या सृष्टि के अन्त होने पर भी कर्म-फल से नहीं बच सकता। उसके सञ्चित कर्म वासनारूप से उसके साथ रहते हैं और जब प्रलय के पश्चात् सृष्टि फिर से उत्पन्न हुई तो जीव प्रारब्धरूप में उनके फलों को भोगता है।

इस मन्त्र का भावार्थ दो बातें प्रकट कर रहा है कि सारा जड़-चैतन्य जगत् व तत्सम्बन्धी व्यवहार प्रवाह से अनादि हैं। दूसरी बात यह निकलती है कि ईश्वरीय ज्ञान एक रस और पूर्ण है। अल्पज्ञ मनुष्य के ज्ञान की तरह घटता-बढ़ता नहीं। ईश्वर के सब कार्य पूर्ण हैं। उनमें संशोधन, सुधार और परिवर्तन की आवश्यकता नहीं, उसको यह आवश्यकता नहीं कि उसने जो लोक-लोकान्तर बनाये अथवा जो प्राकृतिक नियम स्थापित किये अथवा जो वेदरूपी ईश्वरीय ज्ञान उसने मनुष्य को दिया, उसमें कोई त्रुटि या आवश्यक संशोधन ऐसा रह गया कि जिसकी उसको दूसरी बार सृष्टि-रचना में परिवर्त्तन की आवश्यकता पड़े।

पूर्वोक्त अघमर्षण के मन्त्रों में संक्षेप परन्तु स्पष्ट रूप से सृष्टि-रचना के उपादान तथा निमित्त कारणों को दिखला दिया और उसके बनने के क्रम को भी जतला दिया और यह भी बतला दिया कि इस सारी सृष्टि पर वह सृष्टि-कर्त्ता शासन कर रहा है; कोई ऐसी वस्तु नहीं जो उसके शासन के अन्तर्गत न हो और जीवों की कर्म-व्यवस्था का न्याय उस सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् परमात्मा के हाथों में है। उसके निरधारित नियम अटल व एक रस हैं जिनको कोई भी उल्लङ्घन नहीं कर सकता; ये सब प्रवाह से अनादि हैं।

प्रयोग

इन बातों पर कि मनुष्य पापों तथा दुराचारों से कैसे बच सकता है और अघमर्षण के मन्त्रों का अर्थ और उनकी व्याख्या करने के पश्चात् यह विचारणीय है कि उन मन्त्रों का संध्या में प्रयोग करने से मनुष्य पापों से कैसे बच सकता है अर्थात् पापों का नाश किस प्रकार कर सकता है।

यह सिद्ध किया जा चुका है कि पाप से बचने के तीन ही उपाय हैं।

सत्वपाद विज्ञान

(१) सत्वपाद विज्ञान—जब मनुष्य को वास्तविक तत्व-ज्ञान हो जाता है तब वह क्षणिक सुखों के वशीभूत न होकर चिरस्थायी आनन्द-प्राप्ति की ओर अपनी लगन लगाता है—क्षणिक सुखों की तीव्र अभिलाषा ही पापों का कारण हुआ करती है। ज्ञानी पुरुष सांसारिक, व्यावहारिक कर्म करता हुआ भी उनमें कभी लिप्त नहीं होता, इसी लिए वह पापों से निवृत्त रहता है।

रजोपाद कामना

(२) दूसरी कोटि रजोगुणी पुरुषों की है। जिनको दीक्षा तो प्राप्त है पर अभी ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ है परन्तु

ईश्वर और ईश्वरीय व्यवस्था का कुछ-कुछ चमत्कार उनके हृदय-पटलों में दृष्टिगोचर हो गया है। ये साधारण कोटि के पुरुष हैं कि जो इस लोक में प्रतिष्ठादि की प्राप्ति और परलोक के सुखों की उपलब्धि के लिए शुभ कर्मों में प्रवृत्ति और दुष्कर्मों से निवृत्ति का प्रयत्न किया करते हैं।

तमोपाद दण्ड-भय

(३) तमोगुणी उपाय या मार्ग पाप से बचने का वह है कि जो मनुष्य अज्ञानी हैं अथवा पाप में लिप्त हैं वे मुख्यत: दण्ड-भय के कारण पापाचरण से बचते हैं। जब मनुष्य को सत्संग उपदेश आदि से यह बोध होने लगता है कि मैं राज-व्यवस्था से तो किन्हीं उपायों के प्रयोग से दण्ड से कभी-कभी बच भी सकता हूँ, परन्तु उस सर्वज्ञ राजराजेश्वर की न्याय-व्यवस्था से तो मेरा मानसिक कर्म भी न्याय-तुला पर बिना तुले नहीं रह सकता, और मनुष्य के अधिकार में तो प्राण-दंड से अधिक कुछ भी नहीं परन्तु ईश्वर का दण्ड अनिवार्य है और उसके बिना भोगे जन्म-जन्मान्तर में भी छुटकारा नहीं, तब ऐसा अनुभव होने पर पापी से पापी का हृदय भी कम्पायमान होने लगेगा और तब वह पापाचरण से बचने का अवश्य प्रयत्न करेगा।

सारांश यह कि मनुष्य जैसे-जैसे ज्ञान-वृद्धि को प्राप्त होता जायगा वैसे-वैसे उसकी रुचि तुच्छ व व्यर्थ कार्यों से हटती जायगी और श्रेष्ठ कर्मों की ओर तद्गति बढ़ती जायगी। हम नित्यप्रति देखते हैं कि बाल्यावस्था में जब मनुष्य गिटकिरियों से

खेला करता है तो जिस समय उसके पास बहुतसी गुट्टियाँ इकट्ठी हो जाती हैं अथवा दूसरे बालकों से खेल में जीत लेता है तो उसके हर्ष व उल्लास का कुछ पारावार नहीं रहता, मानो उसको सर्वस्व प्राप्त हो गया। वही बालक जब कुछ बड़ा होता है और उसका ज्ञान कुछ विकास को प्राप्त होता है तब वह यह समझकर कि इन गुट्टियों से तो मेरी एक भी आवश्यकता पूरी नहीं हो सकती, स्वयं ही उन्हें त्याग देता है और उन वस्तुओं के उपार्जन की ओर झुकता है कि जिनसे उसके पालन-पोषण इत्यादि की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। शनैः-शनैः जब उसका ज्ञान विशेष वृद्धि को प्राप्त होता है और भोग-विलास का अनुभव भी बढ़ जाता है तब उसको यह ज्ञात होने लगता है कि ये सांसारिक वस्तुएँ तथा उनके भोग से जो सुख मुझे प्राप्त होता है वह असार है। पुत्र-प्राप्ति में जितना सुख मुझे प्राप्त होता है उससे कई गुणा अधिक दुःख उसके वियोग में होता है। जिन बातों में युवावस्था में आनन्द आता था वही बातें वृद्धावस्था में फीकी नीरस ज्ञात होती हैं। पुत्र, कलत्र, धन, वैभव आदि-आदि का सम्बन्ध मुझसे अधिक से अधिक इस शरीर के रहने तक है, और इसका कुछ भी निश्चय नहीं कि यह शरीर कब और किस क्षण छूट जावे; उसको ऐतिहासिक घटनाएँ भी उस समय बहुतसी स्मरण आती हैं, जैसे महमूद ग़ज़नवी जिस समय मरने लगा तो उसने तमाम रुपया-पैसा, जवाहिरात इत्यादि अमूल्य वस्तुओं का ढेर अपने

सामने लगवा लिया और मृत्यु-शय्या पर पड़ा उन्हें देख-देख कर रोता था कि हाय मैं इनको साथ नहीं ले जा सकता जिनके प्राप्त करने में मैंने बड़े से बड़े घृणित और कठोर काम किये, न मालूम ख़ुदा मुझे कैसे दोज़ख़ में डालेगा। इन बातों को विचारकर मनुष्य को यह ज्ञान प्राप्त होने लगता है कि जैसे बचपन में मैं गुड़ियों से खेलता रहा और बड़े होने पर उनको इसलिए त्याग दिया कि मेरे लिए अब यह उपयोगी नहीं, इसी प्रकार अब मुझको यह भासने लगा कि सांसारिक वस्तुएँ तथा उनके भोग से जो सुख का अनुभव हो रहा है वह स्थिर नहीं। मेरा सम्बन्ध इनसे क्षणिक है। जब तक यह शरीर है तभी तक हमारा उनका सम्बन्ध है; नहीं, नहीं यह सुख क्षणिक ही नहीं परन्तु उसके साथ दुख सदैव लगा हुआ है जैसे दिन के पश्चात् रात्रि और रात्रि के पश्चात् दिन। इसी प्रकार से खाने-पीने का जो सुख है उसके साथ क्षुधा-तृषा की पीड़ा भी उपस्थित है। पुत्र-कलत्र की प्राप्ति में सुख है तो उनसे बिछुड़ने में कठिन दुःख भी है, तब उसको चिरस्थायी सुख (ऐसा सुख कि जिसके साथ-साथ दुःख मिला हुआ न हो) की तलाश होती है। तब उसका यह सिद्धान्त (Motto) हो जाता है "अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" (सांख्य अ० १ सू० १) आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक तीनों प्रकार के दुःखों से निवृत्ति होना यही मनुष्य का अत्यन्त पुरुषार्थ है; अर्थात् तीनों प्रकार

के दुःखों से छुटकारा पाना हमारा अभीष्ट है, उसके लिए अत्यन्त पुरुषार्थ करना हमारा परम कर्त्तव्य है। अब उसको यह विचार उपस्थित होता है कि सुख-दुःख का हेतु क्या है? जिसका एक साधारण उत्तर यह मिलता है कि सुख व दुःख का कारण सम्बन्ध है। आत्मा का सम्बन्ध जब शरीर से हो जाता है तो उसको तत्सम्बन्धी सारे सुखों तथा दुःखों का आभास होता है। साधारण उदाहरण के लिए देखिए जब जिह्वा (जीभ) का सम्बन्ध किसी खट्टी, मीठी, कडुई इत्यादि वस्तु से होता है तब उसको उसका सुख ज्ञात होता है। आत्मा का प्रकृति और प्राकृतिक पदार्थों से सम्बन्ध सारे सुख-दुःखों का कारण है। और यह सम्बन्ध उसके कर्मानुसार है। जैसे योग-साधन में मनुष्य के विभूति पाद पर पहुँचकर सांसारिक विभव में फँस जाने का भय होता है, इसी प्रकार ज्ञान-मार्ग में मनुष्य के इस दर्जे तक पहुँचने के पश्चात् उसके गिर जाने का भय होता है। जब हम इस विचार तक पहुँचे कि परिवर्तन-शील संसार और इसके सम्बन्ध से जो सुख हमको प्राप्त होता है वह चिरस्थायी नहीं, इसलिए हमको आगे बढ़ना चाहिए और यह देखना चाहिए कि इससे परे चिरस्थायी सुख कहीं प्राप्त भी हो सकता है, तब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस प्रकृति और प्राकृतिक पदार्थों के अतिरिक्त कुछ और भी है? यदि हम इस परिणाम को पहुँचते हैं कि इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं तब तो हमारी सारी आशा निराशा में परिणत हो जाती है

और इस दर्जे की मायूसी छा जाती है कि हमारी ज़िन्दगी ही तलख़ हो जाती है और फिर इस निराशा के घोर क्लेश से बचने के लिए यदि कोई औषधि शेष रह जाती है तो वही अँगरेज़ी भाषा की कहावत है 'We must make the best of a bad bargain' हमारे लिए जो कुछ भला या बुरा यह संसार है इसी के अन्तर्गत हमको अपनी वर्तमान दशा पर सन्तोष करना चाहिए—संसार के पदार्थों से जो कुछ उपयोग ले सकते हों, लें, यही बुद्धिमत्ता का काम है। परन्तु इस सिद्धान्त का यह परिणाम हुआ करता है कि "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्—भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः" खाओ, पिओ और मौज करो, पुनर्जन्म कैसा! एक उर्दू के कवि का भी कथन है—

نه پهرا عدم سے جو چل بسا هے سزا جزا کي خبر کسے
يهين کے هين يهه مباحثے نه عذاب هے نه ثواب هے

इस संसार से जो चल बसा वह तो लौटता नहीं, तब क्या जाने पाप-पुण्य का फल सुख-दुख होता है या नहीं। यह वाद-विवाद यहीं का है, न कुछ पाप है और न कुछ पुण्य।

यूरप में एक समय वह था कि जब इस सिद्धान्त का बड़ा प्रचार था कि प्रकृति और प्राकृतिक पदार्थों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं। यह संसार प्राकृतिक नियमानुसार बनता-बिगड़ता है। मनुष्य उसका एक अद्भुत चमत्कार है जो मरण समय पञ्चभूतों को प्राप्त हो जाता है; शेष कुछ

नहीं रहता। उस समय में प्राय: लोग नास्तिक और कुछ संदिग्धवादी (Sceptics) अथवा उदासीनवादी (Agnostics) इत्यादि हो गये थे। जो बचे-बचाये ईश्वर जीव में विश्वास रखनेवाले थे उनमें भी अधिकांश अन्धविश्वास के अनुयायी थे। इसका कारण यह था कि वहाँ ईसाई मत प्रचलित था, वह ईश्वर को व्यक्ति विशेष (Personal God) मानता था और उसमें मानुषी गुण-कर्म मान रक्खे थे और प्राय: प्राकृतिक घटनाओं का ईश्वर से तत्कालीन सम्बन्ध लगा दिया करते थे और सांसारिक अद्भुत घटनाओं को दैवी चमत्कार (miracles) कह कर मनुष्यों को ईश्वर में विश्वास दिलाने का हेतु बना रक्खा था। यह संसार ईश्वर ने छ: दिन में रचा, उसको रचे हुए छ: हज़ार बरस हुए। ईश्वर ने जीव, प्रकृति को शून्य से रचा, यह सृष्टि (संसार) ईश्वर ने प्रथम बार रचा और प्रलय के पश्चात् फिर न रचा जायगा, एक जन्म के किये हुए पुण्य-पाप के बदले आत्मा को सदा के लिए स्वर्ग वा नरक होगा; इत्यादि मन्तव्य ईश्वर-वाणी के तुल्य प्रामाणिक माने जाते थे। जब उन देशों में विद्या का प्रकाश हुआ, प्राकृतिक नियमों की खोज लोग लगाने लगे, न्यायशास्त्र तथा फ़िलासफ़ी का विकास हुआ तो पूर्वोक्त मन्तव्यों का विश्वास लोगों के हृदय से हटने लगा। परिणाम यह निकला कि उत्क्रान्तवाद (Evolution Theory) का यह सिद्धान्त कि सृष्टि स्वयं ही बनती-बिगड़ती है यहाँ तक बढ़ा कि उन्होंने किसी अन्य शक्ति की आवश्यकता सृष्टि-रचना में

ज़रूरी न समझो और जीवात्मा को भी प्राकृतिक मानने लगे। वास्पवाद (Nebular Theory) ने यह दिखलाया कि सूर्य्य-मण्डल स्वयं बन गया और यह कार्य संसार-रचना का बाइबिल के कथनानुसार छः दिन में समाप्त होना असम्भव है वरन् उसमें बेशुमार ज़माना लगा—प्रथम उस समय के ईसाइयों ने विद्या-विकास का विरोध किया और जब उसमें सफलता न हुई तो यह कहकर पीछा छुड़ाया कि ईश्वरीय बातों में अपरा विद्या सायन्स (विज्ञान) और फ़िलासफ़ी (मीमांसा) इत्यादि का दख़ल नहीं। धर्म केवल विश्वास के आश्रय में है। तर्क का सम्बन्ध केवल अपरा विद्या से है। यही कारण है कि यूरप में विद्या के प्रचार के साथ धर्म व श्रद्धा का घटना आरम्भ हो गया और नास्तिकवाद व तत्सम्बन्धी मतों का घोर बल हो गया। ज्ञानमार्ग में अपरा विद्या के नित नूतन विकास के प्रकाश से मनुष्य-बुद्धि-चक्षु चकाचौंध से सुरक्षित रखने के लिए और इस ख़तरनाक घाटी से बचाने के लिए और मनुष्य को अटल आस्तिक बनाने के हेतु अघमर्षण मन्त्रों के आदि में ही यह बतला दिया है कि उस अनन्त, अनादि शक्ति के ज्ञान और तप के संयोग से सत् (सृष्टि बनाने की सामग्री) विकृत दशा से प्रकृत दशा में आई। यह केवल शब्द-प्रमाण से ही नहीं बतलाया वरन् संक्षेप रूप से सृष्टि-रचना-क्रम तथा उसका सञ्चालन और ईश्वर का उससे सम्बन्ध सब कुछ दिखा दिया। सन्ध्यो-पासना का नियम धारण करने का आरम्भिक समय प्रायः आठ

वर्ष से १६ वर्ष की आयु से होता है, जिस मनुष्य को वाल्यावस्था से ही—सृष्टि-रचना कैसे हुई, किसने की, उसके लिए किस-किस सामग्री की आवश्यकता हुई, और रचना के पश्चात् उस रचयिता का क्या सम्बन्ध सृष्टि से रहा, और है—बतला दिया जावे, नहीं नहीं, उसका नित्य सायं-प्रातः स्मरण तथा मनन कराया जावे तो ऐसे मनुष्य की आस्तिकता के निश्चल होने में किञ्चिन्मात्र भी संशय नहीं। ज्यों-ज्यों यह बालक शास्त्र-विद्या में निपुण होता जाता है उसका विश्वास पुष्ट होता जाता है। यदि ऐसे बालक को विकासवाद (Evolution Theory) अथवा वास्पवाद का मनन कराया जाता है तो उसको सृष्टि-रचना की व्याख्या इनमें मिलते ही उसके हृदय-पटल और भी खुल जाते हैं और जहाँ चलकर यह सिद्धान्त ठहर जाते हैं।

अघमर्षणमन्त्र उससे भी परे की दशा वर्णन करते हैं। तब उसका विश्वास ईश्वरीय ज्ञानवेद, ईश्वर और अपने धर्म में और भी दृढ़ हो जाता है। इसलिए वह मनुष्य जिसने बचपन से सद्गुरु से अघमर्षण मन्त्रों का उपदेश लिया एवं उसका नित्य मनन और विचार किया, अपरा विद्या, विज्ञान, फ़िलासफ़ी इत्यादि के चकाचौंध में पड़कर ईश्वर-विमुख कदापि नहीं हो सकता। उसका मनन व निदिध्यासन उसको ऐसा ही ईश्वरवादी बना देता है कि जैसा एक वैज्ञानिक पुरुष, विद्युद्वाद पर विश्वास रखता है—परा-अपरा विद्याओं में विरोध नहीं, वरन् घनिष्ठ सम्बन्ध है। विज्ञान ब्रह्म-ज्ञान का द्वार है। इसका

स्पष्ट उपदेश तथा प्रमाण स्वयं वेद भगवान में आया है, जैसा कि निम्नलिखित दो वेद-मन्त्रों से प्रकट है ।

परीत्यभूतानि परीत्यलेोकान्परीत्य सर्वाः प्रदिशोदिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश ॥
यजु० अ० ३२ मं० ११ ।

सब भूतों को जानकर, सब लोकों को जानकर, सब दिशाओं-उपदिशाओं को जानकर, सत्य नियमों के पहिले प्रकाशक की उपासना करके केवल आत्मस्वरूप से ही परमात्मा में सब प्रकार से प्रविष्ट होता है ।

परिद्यावा पृथिवी सद्य इत्वा परिलोकान्परिदिशः परिस्व।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत ॥
यजु० अ० ३२ मं० १२ ।

तत्काल द्युलोक और पृथिवी के बीच के सब पदार्थ जानकर, सब लोकों को ज्ञातकर, सब दिशाओं को जानकर, आत्म-प्रकाश को जानकर, अटल सत्य के फैले हुए धागे को अलग करके जब उसको देखता है तब वैसा बनता है जैसा कि वह था ।

अब हमको ज्ञान-मार्ग की इस घाटी का भय न रहा और हमको पूर्ण विश्वास हो गया कि प्रकृति और प्राकृतिक पदार्थों के परे एक अद्‌भुत, अनन्त और चैतन्य शक्ति है और वह परिवर्त्तनशील भी नहीं, वह ऋत-युक्त अर्थात् ज्ञानस्वरूप है; वह निर्विकार, निराकार, सर्वशक्तिमान् और अनादि

है । सारांश यह कि वह सच्चिदानन्द है और मैं केवल सत्, चित हूँ; यद्यपि चैतन्य हूँ तथापि अल्पज्ञ हूँ । मेरा सम्बन्ध जड़ प्रकृति और परिवर्तनशील संसार से जैसा घनिष्ठ हो रहा है वैसा ही यदि सच्चिदानन्द परमात्मा से हो जावे तो आनन्द की प्राप्ति में कुछ संशय नहीं । इतना ज्ञान प्राप्त होने पर मनुष्य को वैराग्य प्राप्त हो जाता है । जैसा उसको बचपन के पश्चात् ज्ञान होने पर गिटकिरियों के खेल से वैराग्य प्राप्त होगया था उसी प्रकार विज्ञान प्राप्त होने पर सांसारिक भोग-विलास से वैराग्य प्राप्त हो जाता है अर्थात् तृष्णा नहीं रहती । सांसारिक वस्तुओं को वर्त्तते हुए भी उनमें लिप्त नहीं होता, वह संसार को झूठा और असत्य जानकर उसे त्याग निकम्मा बनने का प्रयत्न नहीं करता, परन्तु मनुष्य-योनि के धर्म-कर्म के पालन को कर्तव्य समझकर करता है; तृष्णा से नहीं जैसा कि वेद में उपदेश किया है ।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

यजु० अ० ४० मं० २ ।

मनुष्य इस संसार में कर्मों को करता हुआ ही १०० वर्ष जीने की इच्छा करे । इस प्रकार के व्यवहारों को चलानेवाला जीवन का इच्छुक होते हुए भी कर्म में लिप्त नहीं होता, क्योंकि उसके कर्म केवल कर्त्तव्य-पालन मात्र हैं और जीवन की इच्छा उस कर्त्तव्य के पूरा करने के लिए होती है ।

जिस समय मनुष्य का लक्ष्य निःश्रेयस् हो जाता है उस समय अधर्म-युक्त कर्मों के करने का तो कहना ही क्या धर्म-युक्त कर्म भी उसके लिए केवल साधनमात्र रह जाते हैं। वह जीभ के स्वादु-वश भोजन के लिए मारा-मारा नहीं फिरता परन्तु शुभकर्म करने का साधनरूपी मनुष्य-जीवन और स्वास्थ्य-रक्षा के लिए आहार-विहार का साधन करता है—इस प्रकार जब जीव का तृष्णारूपी पाश से छुटकारा हो जाता है तो उसको प्राकृतिक विषयों के भोग-विलास के बन्धन में डालने का कोई हेतु शेष नहीं रहता। तब यह देहान्त पर स्वेच्छापूर्वक ब्रह्माण्ड में विचरता हुआ ब्रह्मानन्द को प्राप्त होता है। इस दशा का दिग्दर्शन कुछ यूरोपियन विद्वानों को भी होने लगा है, यद्यपि वह अभी तक उसकी खोज प्राकृतिक विकाशवाद में ही कर रहे हैं।

सर ओलिवर लोज साहब का विश्वास है कि:—

"There seems every chance that when we have got rid of our temporary imperfect instruments, our real existence will be unhampered and perpetual."—Making of Man. p.32. 5th Ed.

"जब हम इन अपूर्ण क्षणिक साधनों (इन्द्रियों) से छुटकारा पा जावेंगे तब हमारा सदैव का जीवन, जिसमें कोई रुकावट नहीं, आरम्भ होगा"—इसलिए उसको आहार की आवश्यकता होती है। "परोपकाराय सतां विभूतयः" सज्जन

पुरुषों का सर्वस्व दूसरों के भले के लिए है, इसका उपयोग वे इसलिए नहीं करते कि भविष्य में उसका प्रतिफल सुख प्राप्त हो परन्तु, इसलिए कि उनको सच्चिदानन्द का सहवास करना है और परम पिता परमात्मा का एक गुण दयालुता है इसलिए यह भी अपने मित्र के गुणों का अनुकरण करता है। मनुष्य में यह एक स्वाभाविक बात है कि जिसको वह अपने से श्रेष्ठ, बड़ा, सर्व गुण-सम्पन्न समझता है उसके सत्संग का इच्छुक हो जाता है और उसका अनुकरण करने लगता है। लोक-व्यवहार में हम नित्य देखा करते हैं कि किसी विशेष जाति के अग्रगण्य जिस प्रकार के वस्त्र व आभूषण पहिनने लगते हैं सर्व साधारण भी उसी का अनुकरण करने लगते हैं। मूछ मुड़ाने का कुर्ज़न फैशन अँगरेजों में चल पड़ा तो भारतवासी पढ़े-लिखे भी मूछ मुड़ाने लगे। महात्मा गांधीजी ने यदि अहिंसा-व्रत धारण किया तो बड़े-बड़े क्रोधी तामसी भारतवासी भी उनका अनुकरण करने लगे। इस अनुकरण का स्वभाव मनुष्य में इतना बढ़ा-चढ़ा है कि दुःसाध्य बातें, जो सर्वसाधारण को असम्भव ज्ञात होती हैं, साध्य व सम्भव हो जाती हैं। सन् १९२२ ई० के दस वर्ष पूर्व भी क्या कोई मनुष्य यह ख़याल कर सकता था कि अकाली वीर सिक्ख सरकारी पुलिस की मार खाते हुए त्यागी साधु की भाँति टुक-टुक देखा करेंगे और ज़रा भी बदला लेने का प्रयत्न तो क्या त्यौरी भी न बदलेंगे। इसी प्रकार ईश्वर-परायण पुरुष (उसकी उपासना के अभि-

लाषी) को उसके गुणों का अनुकरण करने में विशेष आनन्द आता है । जब साधारण लोगों में इस प्रकार का अनुकरण सम्भव है तो ज्ञानी पुरुषों के लिए ईश्वर का यथासम्भव अनुकरण करना, और निष्प्रयोजन बिना फल की अभिलाषा के कर्म करना कुछ भी दुस्तर नहीं—सारांश यह कि जिस पुरुष को अघमर्षण के मन्त्रों का नित्य मनन व निदिध्यासन करते-करते प्रत्यक्ष हो गया है कि एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् शक्ति इस संसार की सृष्टिकर्तृ, धात्री और नाशकारिणी है, सारा संसार उसी की नियम-शृंखला में बँधा है, किसी को उसमें चूंचरा की जगह नहीं । यह हमारा जीवन क्षणिक नहीं, इस जन्म के पूर्व भी हम थे और देहान्त के पश्चात् भी रहेंगे—नहीं-नहीं यह सारा संसार इसी प्रकार इससे भी प्रथम उत्पन्न हुआ था और प्रलय के पश्चात् भी फिर उत्पन्न होगा अर्थात् यह सारा संसार प्रवाह से अनादि है । हमारे अगणित जन्म हुए और होंगे । हमारा यह जन्म हमारे पूर्व जन्मों के कर्म-फल का परिणाम है और भविष्य में हम अपने वर्तमान शरीर के द्वारा कर्म के आधार पर ईश्वरीय नियमानुसार योनि पावेंगे । ऐसे उच्च विचार रखनेवाला मनुष्य स्वप्न में भी दुष्कर्म में लिप्त नहीं हो सकता और उसके पास कोई अघ नहीं फटकता ।

महात्मा तुलसीदासजी ने भी ज्ञान की महिमा इसी प्रकार वर्णन की है "जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना । जिमि इन्द्रियगन उपजे ज्ञाना ।।" (तुल० कृ० रामा० किष्किंधाकांड)

अघमर्षण का दूसरा साधन रजोपाद । दूसरी कोटि के वे मनुष्य हैं कि जिनका मनोभाव रजोगुणी है अर्थात् जिनमें मान, मर्यादा, ऐश्वर्य्य, सुख-भोग इत्यादि-इत्यादि अभिलाषाएँ अभी मौजूद हैं। उनको इन अघमर्षण के मंत्रों के नित्य पाठ तथा मनन से यह विश्वास हो जाता है कि हमारा यह जीवन हमारे भूत-भविष्यत् जीवनों में एक है। यह सृष्टि प्रवाह से अनादि है। हम जो कुछ सुख, ऐश्वर्य्य इत्यादि भोग रहे हैं या भोगेंगे ये सब हमारे सञ्चित प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मों का परिणाम है। हमको जो यह मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है यह भी हमारे किन्हीं शुभ कर्मों का ही फल है—इस लोक में जैसे हमारे देश का राजा अपनी प्रजा का प्रबन्ध कर रहा है और जो उसके बनाये क़ानून का पालन करते हैं वे सुखपूर्वक मान-मर्य्यादा के भागी होते हैं और उनसे वह प्रसन्न रहता है। उसकी प्रसन्नता से हमारा कल्याण होता है। परन्तु इस राजा के शासन की एक अवधि है और उसका राज्य भी परिमित है। परन्तु जिस राजा का इन मन्त्रों में वर्णन है उसका राज्य असीम अवधि, अनादि काल है। उसकी प्रजा हम लोग अनादि काल से हैं, उसकी शासन-प्रणाली सर्व-ग्राह्य, देश-काल के बन्धन से रहित, उसमें त्रुटि की जगह नहीं—लौकिक राजा के प्रसन्न रखने और उसकी आज्ञा-पालन करने में हमें केवल इस जन्म में धन, ऐश्वर्य और प्रतिष्ठा का लाभ प्राप्त हो सकता है किन्तु उस अलौकिक शासन-कर्त्ता की आज्ञा का पालन और उसको

धर्माचरण से प्रसन्न रखने में जन्म-जन्मान्तर का लाभ उपलब्ध हो जाता है। कोई भी विभूति ऐसी नहीं है कि जो सुलभ न हो जावे। नहीं, नहीं, लौकिक राजाओं और महाराजाओं को भी यह सारी विभूति उसी की सेवा से प्राप्त हुई है। शुभाचरण उसकी सेवा और प्रसन्नता का कारण है। दुष्टाचरण उसकी अप्रसन्नता का हेतु है। ऐसे विचारवाला पुरुष कदापि दुराचारी नहीं हो सकता। यद्यपि रजोगुण-प्रधान मनुष्य में अघों का मूल-नाश नहीं होता क्योंकि उसके हृदय में संकल्प-विकल्प का उठना बंद नहीं होता। चूँकि उसके मन में सुख की वासना प्रधान है इसलिए उसका मन कभी-कभी उन सुखों की ओर झुक जाता है कि जो पापाचरण से होता है परन्तु उसकी बुद्धि उसको रोकती है कि यह मृगतृष्णा है, तुम्हें सुख के बदले दुःख में डालेगी और वह वहीं पर उस मानसिक पाप को कार्यरूप में परिणत करने से रुक जाता है और यह भी प्रयत्न करता है कि भविष्य में मुझसे ऐसा मानसिक पाप भी न बन पड़े और कदाचित् ऐसे पुरुष से कोई कुकर्म बन भी पड़े तो वह बहुत शोक करता है और फिर उससे बचने का भारी उद्योग करता है। संसार में प्रायः देखा जाता है कि यदि कोई ऐसा पुरुष जो कि सर्वसाधारण अथवा किसी विशेष सभ्य-समुदाय में प्रतिष्ठा को प्राप्त हो रहा है, कभी किसी विशेष कारणवश दुराचार की ओर झुकता भी है, तो तुरन्त उसको यह विचार होता है कि यदि मैंने ऐसा कुकर्म किया तो मेरी

सारी मान-मर्य्यादा मिट्टी में मिल जायगी और वह उस लोकेषणा के लालच से कुकर्म से बच जाता है। परिणाम यह निकलता है कि जब मनुष्य इस सृष्टिचक्र और उसकी परिस्थिति पर विचार करता है तो उसकी आत्मा लाभालाभ के विचार से दुष्कर्मों से हटने लगती है और उसका आत्मगौरव उसको सत-चित-आनन्द स्वरूप सच्चिदानन्द की ओर खींचता है और जड़ प्राकृतिक तथा उसके चमत्कार-योग्य पदार्थ उसको आत्मिक-गौरव की क्षति का कारण ज्ञात होते हैं, जैसे कोई मनुष्य किसी अति सुन्दर सुसज्जित विचित्र गृह में जाकर विद्यमान वस्त्र-आभूषण-सम्पन्न चित्र-विचित्र प्रकार की मूर्त्तियाँ, नाना प्रकार के रङ्ग-विरंगे चित्र, देखकर मोहित हो जाता है, परन्तु जब वह ध्यानपूर्वक उनको देखता और उनके अङ्ग-उपाङ्ग का अवलोकन करता है तब कुछ काल पश्चात् उसका जी भर जाता है और उसके बनानेवाले की प्रशंसा करता हुआ चाहता है कि उस गृह के बाहर निकले। कारण यह मनुष्य चैतन्य शक्ति है वह अचेतन मूर्त्तियां व चित्रों के साथ सहवास नहीं कर सकता क्योंकि वे उससे सम्भाषण नहीं कर सकतीं। उससे कुछ सहानुभूति नहीं दिखला सकतीं, कुछ भी चैतन्य व्यवहार नहीं कर सकतीं। मनुष्य को अपने सहधर्मी मनुष्यों में ही आनन्द आता है। इसी प्रकार मनुष्य को ज्यों-ज्यों प्रकृति तथा प्राकृतिक पदार्थों के सहवास से तत्त्वज्ञान होता जाता है, वह उनके वास्तविक स्वरूप का अनुभव करता है, तब उसको ज्ञात हो जाता है कि यह

जड़ पदार्थ मेरे सहवास के योग्य नहीं, तब उसका चित्त अपने सहधर्मी सर्वोत्तम आत्मा परमात्मा की ओर झुकने लगता है और इस भोग-विलास के सुख को छोड़कर वास्तविक आनन्द की ओर झुकता है। इस प्रकार पाप-कर्म जो प्रकृति के सम्बन्ध से हुआ करते हैं उससे दूर होते जाते हैं और इस प्रकार रजोगुण से मनुष्य सत्वगुण-प्रधान बन जाता है।

तीसरा उपाय तमोपाद वह है कि जिसका सम्बन्ध नीचे दर्जे और साधारण कोटि के मनुष्यों से है और जिन मनुष्यों में तमोगुण प्रधान है अथवा तमोगुण, रजोगुण दोनों प्रबल हैं, और काम, क्रोध, लोभ, मोह, में फँसे हुए हैं, ऐसे मनुष्य दुष्कर्मों से केवल दण्ड के भय से डरकर बचते हैं। जुआरी, चोर, जार इत्यादि प्रायः राज-दण्ड अथवा भाई-बिरादरी के डर से अपने मनोवाञ्छित कुकर्मों को खुल्लमखुल्ला करने से भयभीत होकर मौक़ा ढूँढ़ा करते हैं कि उनको कोई गुप्त अवसर मिल जावे तो वे उस कर्म में प्रवृत्त हों, जिससे उसके गुप्त रहने के कारण दण्ड से बच सकें। इसलिए उनको ऐसे कर्म करने का अवसर कम प्राप्त होता है और प्रायः उससे बच जाते हैं और ऐसे बचते-बचते कभी-कभी उनका दुष्ट स्वभाव पलट भी जाता है और वे सदाचारी हो जाते हैं। ऐसे मनुष्यों को जब अघमर्षण के मन्त्रों का नित्य प्रति पढ़ने का अवसर पड़ता है और उनका यह विश्वास जमने लगता है कि गुप्त से गुप्त और छोटे से छोटा पाप तक उस सर्वज्ञ

परमात्मा की दृष्टि से छिपा नहीं रह सकता और एक जन्म का तो कहना ही क्या जन्म-जन्मान्तर का कोई भी कर्म ईश्वर की न्याय-व्यवस्था से (बिना उसका फल प्राप्त किये) नहीं बच सकता और यदि हम दुष्कर्म करते रहेंगे तो असीम काल तक हमारे दुःसह दुःख का अन्त नहीं आ सकता। हम जिस समय तक अपने दुराचार को छोड़कर सदाचारी नहीं बनते हमारे लिए दुःख ही दुःख है, सुख कदापि नहीं। ऐसा मनुष्य ईश्वरीय व्यवस्था से भयभीत होकर अवश्यमेव दुष्कर्मों से बचेगा। एक भाषा के कवि ने एक घटना कथन की है। वह एक उदाहरण इस बात का है कि मनुष्य दण्ड के भय से कैसे कुकर्म से बच सकता है।

एक पण्डित कामातुर हो रमण के लिए वेश्या के घर गये। जब वहाँ से चलने लगे तब उस वेश्या ने अपने सारे हाव-भाव के साथ पण्डितजी से पूछा कि अब आप कब मिलेंगे? पंडितजी ने उत्तर दिया कि "कुम्भीपाक" में—इससे स्पष्ट होता है कि दर्शित पण्डित काम-वश होकर दुष्कर्म में प्रवृत्त हुए, परन्तु जब कामदेव का प्रकोप कुछ शान्त हुआ तब उनको इसका स्मरण आया कि ऐसे कर्म का फल ईश्वरीय व्यवस्थानुसार नरक है। तब उनका हृदय उस कर्म से काँप उठा, और उस हार्दिक भाव ने उनके अन्य सब दुर्भावों को दबा दिया, यहाँ तक कि वे उस विचार को अपनी मनमोहिनी वेश्या से भी न छिपा सके और प्रकट ही कर दिया। ऐसा मनुष्य

फिर दुष्कर्मों में कदापि प्रविष्ट नहीं हो सकता। परिणाम यह कि ईश्वरीय दण्ड का भय भी मनुष्य को प्राय: कुकर्म से बचा लेता है। जिसको सायं-प्रात: अघमर्षण के मन्त्रों को पढ़ते हुए उस राजराजेश्वर की सर्वग्राहिणी अचूक राजव्यवस्था का अघमर्षण के मंत्रार्थ से स्मरण होता रहेगा उसके हृदय से ईश्वरीय दंड-व्यवस्था की स्मृति कभी दूर नहीं होगी और इस प्रकार पापों से बचता रहेगा और बचते-बचते क्रमश: तमोगुणी से रजोगुणी और फिर सत्वगुणी भी बन सकता है।

प्रागुक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि तीन प्रकार के मार्ग जो मनुष्यों के पापाचार से रोकने के हो सकते हैं उन सब की शिक्षा दिग्दर्शन सूत्ररूप से इन वेद-मन्त्रों में बड़ी उत्तमता से मिलती है और बालक से लेकर वृद्ध पुरुष के लिए तथा विद्वान् से विद्वान् और साधारण से साधारण पुरुष के हृदय-भाव को पवित्र बनाने के लिए मंत्रार्थ यथेष्ट हैं। इससे उत्तम उपाय दूसरा हो ही नहीं सकता। यदि अघमर्षण में इन मन्त्रों के स्थान में कोई अन्य ऐसे मंत्र रक्खे जाते कि जिनमें यह उपदेश होता 'ऐ मनुष्य! तू पाप से बच, क्योंकि पाप बुरा है,' अथवा उस मन्त्र में पाप-दण्ड का वर्णन होता अथवा जिसमें केवल आस्तिकता की शिक्षा होती तो ऐसे मंत्र कदापि सन्ध्या के लिए इतने उपयोगी नहीं हो सकते थे जितने ये मन्त्र हैं। सदाचार का सारा रहस्य कूट-कूट कर मन्त्रों में भरा पड़ा है। आस्तिकता के गूढ़ाशय का

चित्र खींचकर दिखला दिया, और ईश्वर-परायणता के मर्म को भी मीमांसिक और वैज्ञानिक रूप में स्पष्ट कर दिया है। ये मन्त्र मनुष्य के भावों और बुद्धि दोनों पर एक साथ ऐसा प्रभाव डालते हैं कि जो किसी काल किसी दशा में डिग नहीं सकता। इस प्रकार आस्तिकता का सुन्दर मंदिर हमारे केवल विश्वास-रूपी कच्चे ईंट-गारे से नहीं वरन् वैज्ञानिक पक्की ईंटों तथा मीमांसक चूने के गारे और भक्ति-भावों के सीमंट से दृढ़ हमारे हृदय में बन जाता है। इस सदाचार के हेतुओं की गहिरी नींव पर खड़े हुए राजगृह में जीवात्मा आनन्द-पूर्वक सर्व विघ्न-सुरक्षित निवास कर ब्रह्मानन्द को पा सकता है। धन्य हैं वे मस्तिष्क कि जिन्होंने संध्योपासन में अघमर्षण के सम्बन्ध में इन वेद-मन्त्रों का प्रयोग किया है और हमें बतलाया है कि इनको दोनों समय सायं-प्रातः पढ़ने व मनन करने से पापों का नाश हो जावेगा; वे मनुष्य-जीवन के चारफल धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति के साधन हैं।

वर्तमान समय में यह प्रश्न प्रायः उपस्थित होता है कि आस्तिकता तथा सदाचार का मंदिर विश्वास की भूमि में खड़ा है अथवा विज्ञान और मीमांसा की शिला पर। उक्त लेख का तो यह आशय निकलता है कि अघमर्षण के मन्त्रों में विज्ञान (Science) और मीमांसा (Philosophy) के आधार पर आस्तिकता का उपदेश किया गया है परन्तु वर्त्तमान समय में जब कि विद्योन्नति अपनी पराकाष्ठा को पहुँच चुकी है चारों

और पदार्थ-विद्या के चमत्कार दिखलाई देते हैं। यह देखने-सुनने में आता है कि धर्म की बुनियाद भक्तिभाव (faith) पर है। फिलासफी और युक्ति (मीमांसा व तर्क) उसके विरोधी हैं। यूरोप व अमेरिका इत्यादि देशों में भी, जहाँ विद्या का सूर्य्य अपनी प्रचण्ड किरणों-द्वारा पूर्ण तेज से तप रहा है, जहाँ नित-नूतन आविष्कार (discoveries) हो रहे हैं, जहाँ सैकड़ों की संख्या में सदाचार तथा धर्म पर पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं और लिखी जा रही हैं, ईश्वर और उसकी व्यवस्था के विषय में अविश्वासता और उदासीनता दिखाई देती है। धर्म को शिक्षा-केन्द्रों से पृथक् सा कर रक्खा है। किसी कालेज, स्कूल में विविध प्रकार लौकिक विद्याओं के साथ-साथ धर्म-शिक्षा नहीं दी जाती। यदि दी भी जाती है तो कथनमात्र विद्यार्थियों का जीवन क्रियात्मक रूप से धार्मिक बनाने का कुछ भी प्रयत्न नहीं किया जाता। यदि कुछ किया भी जाता है तो वह यह कि धर्म को सदाचार से पृथक् करने का प्रयत्न किया जाता है। मनुष्यों का आचार-विचार दिखा रहा है कि प्रायः लोगों में ईश्वर-परायणता कथनमात्र है।

यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त सा हो रहा है कि धर्म तर्क-मीमांसा की कसौटी पर कदापि कसा नहीं जा सकता और बहुतों का विश्वास है कि ज्यों-ज्यों विद्या की रोशनी अधिक-अधिक मनुष्यों के हृदय पर प्रकाश डालती जाती है त्यों-त्यों यह विश्वास उन्नति करता जाता है। तब ऐसे समय में इस बात का

दावा करना कि वेद-मंत्र तर्क और वैज्ञानिक विचारों के आधार पर ईश्वर व उसकी व्यवस्था का निरूपण करके लोगों को इस रोशनी के ज़माने में ईश्वर-भक्त और सदाचारी बना सकते हैं समझ में नहीं आता; बुद्धि इसको ग्रहण नहीं कर सकती।

प्रागुक्त शंकास्पद कथन की यदि मीमांसा की जावे तो उससे दो बातें निकलती हैं। पहिली यह कि विद्वानों को परमात्मा तथा उसकी व्यवस्था पर निश्चयात्मक विश्वास नहीं होता; यदि हुआ भी तो केवल भक्तिभाव के आधार पर। दूसरे पदार्थ-विद्या इत्यादि की उन्नति ईश्वर-परायणता की विरोधिनी है, ये दोनों कथन असत्य हैं। यदि गम्भीर दृष्टि से देखा जावे तो न तो यह सत्य है कि साइन्स, विज्ञानशास्त्र, फिलासफी और मीमांसा-शास्त्र आस्तिकता के विरुद्ध हैं और न यही ठीक है कि विद्वन्मंडली ईश्वर-परायणता से विमुख है, अथवा विमुख हुआ करती है। आस्तिक व नास्तिकवाद तो सदा से चले आते हैं। धार्मिक तथा धर्म-विमुख व्यक्ति भी होते ही आये हैं। इनमें से एक या दूसरे की सम्बन्धित संख्या में न्यूनाधिकता समय समय पर किन्हीं विशेष हेतुओं से हो जाया करती है। प्राचीन समय में भी चार्वाक आदि नास्तिक हो गये हैं जिनका सिद्धान्त यह रहा—"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत:"—तात्पर्य्य यह है कि खाओ, पिओ, मौज करो। चाहे यह भोग-विलास अनुचित रीति से भी प्राप्त

हो सकें; क्योंकि इस शरीर के छूटने पर कौन दूसरा जन्म लेता है, अर्थात् न कोई जीव शेष रहता और न किसी को पाप-पुण्य का फल मिलता है। बौद्धमतानुयायी भी किसी विशेष सृष्टि-कर्त्ता, कर्मों के फलदाता को नहीं मानते अथवा यों कहिए कि बौद्धमतानुसार कर्मरूपी स्वावलम्बन तथा कर्म-फल की नियमानुसार प्राप्ति पर इतना ज़ोर दिया है कि कर्मों के फलदाता की ओर से पूर्ण उदासीन होकर उसको भुला ही दिया और यह मत यूरुप इत्यादि पाश्चात्य देशों में विद्या-प्रकाश से अति प्राचीन है। वर्त्तमान समय में इस देश तथा अन्य देशों में संदिग्धवादी अथवा ऐसे लोग कि जिनको धर्म से उदासीनता है अधिक संख्या में पाये जाते हैं। प्राचीन समय मे ऐसे मनुष्यों की संख्या इतनी कम थी कि ये किसी गणना में न थे। बौद्धमतावलम्बियों की जनसंख्या किसी समय में दुनिया में बहुत बढ़ गई थी परन्तु वे लोग वैदिक कर्म-फल की व्यवस्था को पूर्णतया मानते थे और मोक्ष भी ज्ञान-प्राप्ति से ही मानते थे, जिसका परिणाम यह निकलता है कि वे ईश्वरीय व्यवस्था लौकिक-पारलौकिक सब मानते, केवल इतना नहीं मानते कि इसका कोई व्यवस्थापक है या यहाँ तक जाने की कोई आवश्यकता नहीं समझते थे। इसलिए क्रियात्मक रूप से इस प्रकार की नास्तिकता का वह भयानक परिणाम नहीं था कि जो अब प्रकृतिवादियों के नास्तिक विचारों में है। वे न जीव ही मानते और न देहान्त के पश्चात् कोई कर्म-फल ही

मानते हैं। मनुष्य के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का सीमा-चक्र इसी जीवन तक परिमित कर देते हैं।

विचारणीय यह है कि वर्त्तमान समय की धर्म-उदासीनता तथा संदिग्धवादता इत्यादि का कारण क्या है? कवि मिल्टन के समय तक ईसाई मत तथा उसके प्रचरित सिद्धान्तों पर पूर्ण विश्वास था। मसला तसलीस—(पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा) आदम के गेहूँ का फल खाने पर पापी बना कर ईश्वर का उनको स्वर्ग से निकालना, आदम के पाप करने पर उसकी सारी सन्तान (मनुष्य जाति) को पापी क़रार दिया जाना, जीव केवल एक बार जन्म लेता है और न पूर्व जन्म लिया और न फिर कभी लेगा, प्रलय के पश्चात् जो नरक में डाले जायँगे उनका कभी छुटकारा नहीं, जो स्वर्गीय हो गये उनके भोग-विलास का कभी अन्त न होगा, प्रकृति और जीव को ईश्वर ने शून्य से रचा, बिना कारण किसी को सर्व सुख-सम्पन्न किया तथा किसी को महा दरिद्री, दुखी, लूला, लँगड़ा, कुबुद्धि, पागल इत्यादि बनाया और इसी प्रकार की बहुत सी बातें मानना—धर्म का अंग समझा जाता था। जिस समय यूरुप में विद्या का विशेष प्रकाश हुआ, स्वतन्त्र विचारों की लहर वेग के साथ बहने लगी; लोग न्याय, मीमांसा तथा तर्क की कसौटी पर हर एक मसले को कसने लगे। प्रमाण के लिए विज्ञान (पदार्थ-विद्या) का सहारा लेने लगे; उस समय प्रागुक्त धर्म-सम्बन्धी मसलों का मण्डन

करना असभ्यता प्रतीत होने लगा—कहाँ तो उन मसलों को ईश्वर-वाक्य समझकर निर्भ्रान्त मानते थे और कहाँ उन पर खुल्लमखुल्ला वाद-विवाद होने लगा। तब इन स्वतन्त्र विचार-वादियों को विविध प्रकार का द्वेषी ठहराकर दण्ड देना आरम्भ किया। जब इससे भी काम न चला तो (Theological Works) देवमाला ग्रन्थों की रचना चर्च की ओर से अपना पक्ष मण्डन करने के लिए होने लगी। स्वतन्त्र-विचार-वादी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अपने पक्ष का मण्डन और चर्च के पंथ का खंडन करते थे। विज्ञानशास्त्र और फ़िलासफ़ी के मसलों के हवाले देते थे कि जिमसे लोग उनके फ़ौरन क़ायल हो जाते थे परन्तु चर्च-सम्प्रदाय के लोग जहाँ पर अपना पक्ष गिरता हुआ देखते थे तो वितण्डावाद खड़ा कर देते थे। बहुत से विवादास्पद सिद्धान्तों को सिद्धपक्ष मान कर इतना घुमा-घुमाकर बढ़ा देते थे कि उनकी युक्तियों का सार निकालना ही असंभव हो जाता था—कारण यह था कि निर्बल से निर्बल युक्ति-शून्य स्वपक्ष का भी मण्डन करना अपना कर्तव्य समझते थे। परिणाम यह हुआ कि न केवल उनके पक्ष से लोगों का विश्वास ही हटने लगा वरन् देवमाला के ग्रन्थों से लोगों की श्रद्धा हट गई; केवल बाल की खाल निकालने के अतिरिक्त उनमें कोई सार नहीं होता ऐसा विश्वास उनको जम गया और लोगों को यह निश्चय हो गया कि विज्ञानशास्त्र और मीमांसा के सिद्धान्तों तथा चर्च के मसलों के बीच निर्णय होना असम्भव है।

स्वतन्त्रवाद का आधार प्रत्यक्षादि प्रमाणों पर था। विद्यानुरागियों की संख्या बढ़ रही थी, उनका पक्ष प्रबल पड़ा और ईसाई मत से लोगों को अश्रद्धा हो गई। बाइबिल के प्रमाणों को ईश्वर-वाक्य मानना असम्भव हो गया। चूँकि ईसाई मत सर्वोपरि सभ्य-मण्डली का मत उस समय युरोप में माना जाता था, तुलना के लिए वहाँ कोई अन्य मत प्रचरित न था; इसलिए स्वतन्त्रवादियों और उनके अनुयायियों को यह विश्वास हो गया कि संसार में सारे मत-मतान्तर कपोल-कल्पित और अविश्वासपात्र हैं; क्योंकि जब सर्वोपरि चर्च-मत ही उनकी युक्तियों और प्रमाणों के सामने न डटा तो अन्य मतों का कहना ही क्या है। इसका परिणाम यह हुआ कि उन लोगों का विश्वास ईश्वर, जीव, परलोक इत्यादि से हट गया, और इनको कपोल-कल्पित बातें मानने लगे। परन्तु ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया और युरोपियन जातियों में विज्ञान, मीमांसा की उन्नति होती गई, निराधार प्रकृतिवाद में संशय पड़ने लगा और ज्यों-ज्यों स्वतन्त्रतापूर्वक विचाराविचार बढ़ता गया, विज्ञान (Science) और मीमांसा (Philosophy) के सिद्धान्तों पर विशेष दृष्टिपात होने लगा। अश्रद्धा, अविश्वास की लहर कम होने लगी। जो विकासवादी यह मानते थे कि प्रकृति प्रथम और उसका प्रादुर्भाव जीवन (life) है, उनको यह मानना पड़ा कि जीवन के प्रकाश के आश्रित विकास है। कुछ समय पूर्व परमाणु (atoms) अयौगिक और अनादि

माने जाते थे, फिर यह प्रकट हुआ कि नहीं ये यौगिक हैं और इलेक्ट्रन्स (electrons) से बने हुए हैं। तत्पश्चात् यह सिद्धान्त माननीय ठहरा कि इलेक्ट्रन्स (electrons) भी यौगिक हैं और इनका उपादान कारण विद्युत अथवा कोई अन्य शक्ति है।

प्रशंसित लोज साहब कहते हैं (Matter and energy are now beginning to be considered interchangeable.) अर्थात् प्रकृति और शक्ति परस्पर परिवर्तनशील समझे जाने लगे हैं। हरबर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) योरुप में बड़े प्रसिद्ध उदासीनवादी (Agnostic) हुए हैं। उनको भी अन्त में यह मानना पड़ा कि इस संसार की उत्पत्ति के विषय में कार्य, कारण का विचार करते-करते अन्त में कोई अलौकिक शक्ति सबसे परे माने बिना निर्वाह नहीं होता। उसको मानने की आवश्यकता पड़ती है। यद्यपि उनका कथन है कि वह शक्ति क्या है और कैसी है? यह जानना अल्पज्ञ मनुष्य की बुद्धि से परे है—विचारपूर्वक देखा जावे तो यह वास्तव में "ऋत और तप" जो वेद-मंत्र में सृष्टि की उत्पत्ति के वर्णन में आये हैं उनके अस्तित्व का इक़बाल है अथवा यों कहिए कि उस विद्वान् के मस्तिष्क मे स्वतन्त्ररूप से इस वैदिक विज्ञान की कुछ झलक पड़कर रह गई। उसका सम्यक् प्रकार से बोध शेष रह गया। एक दूसरा प्रख्यात उदासीनवादी (Agnostic) मिस्टर हक्सले (Huxley) अपने एक लेख में लिखते हैं जिसका भावार्थ यह है—"इस प्राकृतिक संसार

की क्रिया ज्ञानपूर्वक प्रतीत होती है और मेरा विचारपूर्वक यह विश्वास है कि यह क्रम सदैव से बिना किसी परिवर्तन के संसार का संचालक रहा है और यह विशेषरूप से सत्य है। ("As for the strain of conviction," says Huxley, "that the cosmic order is rational and the faith that throughout all durations unbroken order has reigned in the Universe, I not only accept it, but I am disposed to think it the most important of all the truths.")

यही विद्वान् एक अन्य स्थान पर योनियों के बनने का क्रम वर्णन करते हुए लिखते हैं कि "ख़ुर्दबीन से देखने पर प्रथम हमको एक पनीली सी वस्तु में कुछ दाने से तैरते हुए दृष्टिगोचर होते हैं और उस वस्तु में साधारण गर्मी पहुँचने पर ऐसा परिवर्तन होने लगता है कि मानो कोई बड़ा होशियार कारीगर इस बेढंगी वस्तु को कुछ ढंग दे रहा है। यह कारीगर पहिले उसमें एक रेखा सी उत्पन्न करता है, जिसके एक सिरे पर एक बिन्दु सा और दूसरे सिरे पर दूसरा बिन्दु सा रखता है। यही रेखा रीढ़ की हड्डी और यही बिन्दु शिर व पूछ बन जाते हैं और इधर-उधर से अन्य अंग-प्रत्यंग बनने लगते हैं। इस क्रम को ध्यानपूर्वक देखने के पश्चात् हमारा यह निश्चय होता है कि यदि हमको इन भौतिक चक्षुओं से सूक्ष्मतर दृष्टि प्रदान हो जावे तो हमको ज्ञात होगा कि कोई परोक्ष कारीगर उद्देश्यपूर्वक

अपने काम को पूर्ण कर रहा है ।" 'After watching the process hour by hour, one is almost involuntarily possessed by the notion that some more subtle aid to vision than our achromatic would show the hidden artist with his plan before him, striving with skilful, manipulation to perfect his work.'

. इसी बात को यदि हम आस्तिक भाषा में कहें तो यों होगा कि यदि हमारी दैवदृष्टि हो जावे तो हमको प्रत्यक्ष होगा कि इस संसार की रचना में वह निराकार विश्वकर्मा अपना कार्य अपनी ब्योंतनी के अनुसार नाना प्रकार से बड़ी कारीगरी के साथ कर रहा है । क्या पूर्वोक्त कथन '**ऋत**' और '**तप**' की साक्षी नहीं है ! नहीं-नहीं यह कथन उन शब्दों की साधारण व्याख्या है । लेख स्पष्ट शब्दों में बतला रहा है, यदि सृष्टि की रचना को ध्यानपूर्वक देखिए तो इसके अन्तर्गत एक अदृश्य निराकार शक्ति काम करते ज्ञात होती है । यह तो हुई व्याख्या **तप** की, अब इसी लेख में **ऋत** की भी साक्षी मि० हक्सले दे रहे हैं कि "यह रचना क्रमानुसार है, अकस्मात् नहीं; और उस कार्य-कर्त्ता की उत्तम सर्वाङ्ग-पूर्ण उस ब्योंतनी के अनुसार ही कार्य सम्पन्न हो रहा है ।"

इतना ही नहीं वरन् प्रत्यक्ष रूप से मीमांसा और विज्ञान-शास्त्र की उन्नति के साथ-साथ आस्तिकवादियों की संख्या यूरोप में भी दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है । उदाहरण के लिए

काँट (Kant), मोक्षम्यूलर (Max Muller), आसाग्रे (AsaGray), अलफ्रेड रसिल (Alfred Russel), वालेस (Wallace) इत्यादि। इनके अतिरिक्त और बहुत से यूरोपियन विद्वान् हैं कि जिनको ईसाई दुनिया भले ही नास्तिक कह रही हो, पर वास्तव में वे नास्तिक नहीं। यह बात दूसरी है कि उनको किसी विशेष मत में विश्वास न हो अथवा किसी अन्य सद्धर्म का सहारा न मिलने के कारण उनके धार्मिक विचार किसी अंश तक डावाँडोल हों परन्तु मौलिक सिद्धान्त वास्तव में नास्तिकता के नहीं।

जर्मनी का एक मीमांसक (philosopher), जिसका नाम फिशे (Fitchte) था, प्रचरित स्वर्ग-नरक के ईसाई मत के विचारों से सहमत न था और इसी कारण उसका कहना था कि वह ऐसे ईश्वर को, जिसने यह स्वर्ग-नरक की व्यवस्था नियत की है, मानने को तय्यार नहीं। सदैव के नरक को ईश्वर की निर्दयता और स्वर्ग के सुखों को आत्म-अवनति का कारण बतलाता था (All enjoyments is but degradation of reason or human nature.)। उसका कथन था कि विद्या ही धर्म है (knowledge is religion)। देखो, उक्त विचार अधिकांश में वैदिक धर्म के मन्तव्यों से कितना मिलते-जुलते हैं। वैदिक-धर्म का सिद्धान्त है कि "सर्व प्रकार के भोग बन्धन के कारण हैं और ज्ञान ही मोक्ष-दाता है।"

अब रहा स्वर्ग-नरक का मसला। उनको वैदिक धर्म कोई

विशेष स्थान नहीं मानता और न यह प्रतिपादन करता है कि जीव एक जन्म के दुष्कर्मों के कारण सदा के लिए दुःसह दुख में पड़ा रहेगा, वरन् जीव के कर्मों का फल आवागमन रूपी दण्ड है कि जिसमें जीव दुःख भोगता जाता है और साथ ही साथ पाप-फल से निवृत्त होकर जन्मरूपी बन्धन से छुटकारा पाने के उपाय भी करता जाता है। इस प्रकार दण्डरूपी दुःख भी उसके सुधार का एक प्रकार से कारण बन जाता जो कि दण्ड का मुख्य प्रयोजन है। इससे प्रतीत होता है कि यदि प्रशंसित जर्मन विद्वान् को वैदिक धर्म का यथार्थ बोध होता, तो उनको ईश्वर से विमुख होने का कोई कारण न था वरन् वह वैदिक धर्म के अनुयायियों में गिने जाते।

उपर्युक्त उदाहरणों से सिद्ध होता है कि विज्ञान (Science) और मीमांसा (Philosophy) धर्म या ईश्वर-परायणता के विरोधी नहीं; वरन् उसके अनन्त ज्ञान और अद्भुत क्रिया के द्योतक और बोधक हैं और इस प्रकार ईश्वर में निश्चयात्मक विश्वास और उसकी अनन्त भक्ति के भावों को उत्पन्न करने-वाले हैं। ('All that science has discovered hitherto has emphasised the rationality of the Universe.' —Making of Man, 1924.) जो कुछ सायंस ने अब तक जान पाया है उससे इस संसार का बुद्धि-पूर्वक होना पाया जाता है, ये वचन ईश्वरीय ज्ञान-पूर्वक क्रिया के स्पष्ट बोधक हैं। यह किसी साधारण मनुष्य का कथन नहीं वरन् एक बड़े

सायंसवेत्ता का मत है। इतना अवश्य है कि मनुष्य अल्प-दृष्टि और परिमित बुद्धिवाला होने के कारण किसी-किसी समय वैज्ञानिक चमत्कार की प्रखर किरणों के सामने उसकी बुद्धि के चक्षु चकाचौंध होजाने के कारण उसको अन्धकार सा ही दिखाई देता है; अथवा ज्ञान-चक्षुओं में तिलमिलाहट पैदा हो जाने के कारण लौकिक और अलौकिक सूर्य्यों की प्रखर किरणों में भेद-भाव करना, और भौतिक पदार्थों से अभौतिक और प्रत्यक्ष वस्तुओं से परोक्ष, (यथार्थ) करना कठिन हो जाता है। प्राकृतिक वस्तुओं को ही सब कुछ समझने लगता है, परन्तु शनैः २ ज्यों-ज्यों वैज्ञानिक तेज का हृदय-चक्षुओं को अभ्यास होने लगता है और उनका चकाचौंध मिटने लगता है तब उसको इस प्राकृतिक चमत्कार में उस अलौकिक सूर्य्य की प्रखर कलाओं का अनुभव होने लगता है और उसका चकाचौंध मिट जाता है।

अब एक संशय शेष रह जाता है कि यदि विद्योन्नति के साथ-साथ आस्तिकता की लहर और धर्म पर विश्वास बढ़ रहा है तो वर्त्तमान समय में शिक्षित-समुदाय में धर्म और ईश्वर-परायणता से उदासीनता क्यों आती है? यदि हम शिक्षा के केन्द्र अँगरेज़ी कालेजों अथवा अन्य पाश्चात्य शिक्षा-प्रद समुदायों के अन्तर्गत आचार-विचार और उन लोगों की दिनचर्य्या पर दृष्टि डालते हैं और उनके हृदयों को अन्दर से टटोलते हैं तो हमको ईश्वर-परायणता के **अनन्यभाव** का अभाव सा प्रतीत होता है।

इसका मूल कारण यह है कि पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली का क्रम यह हो रहा है कि परा और अपरा विद्याओं का परस्पर सम्बन्ध नहीं रक्खा गया। जिस समय भूगोल, खगोल, सायंस, फ़िलासफी इत्यादि अपरा विद्याओं की शिक्षा स्कूलों, कालेजों में हम लोग पाते हैं तो उस समय हमको विविध मत-मतान्तरों में लिखी हुई इसी प्रकार की बातों की तुलना करने का मौक़ा नहीं दिया जाता। यदि कोई करना भी चाहे तो तत्काल उसको मना कर दिया जाता है कि मतमतान्तरों के वाद-विवाद का यह स्थान नहीं है। इतना ही नहीं वरन् परा विद्या को विचार-शून्य बनाने का एक अद्भुत सिद्धान्त चल गया है कि धर्म केवल विश्वास का विषय है और सायन्स फ़िलासफ़ी आदि अपरा विद्या तर्क और बुद्धि का विषय है। यह इसलिए किया जाता है कि हम अपने प्रचरित मत-मतान्तरों के विश्वासों और विचारों को आघात पहुँचाना नहीं चाहते; चाहे वे कितने ही पोच और निराधार क्यों न हों। जिसका परिणाम यह होता है कि वैज्ञानिक विषयों में तो सत्य के ग्रहण करने के लिए परस्पर मत-भेद होते हुए भी एक-दूसरे के विविध प्रमाणों तथा हेतुओं को छानबीन के साथ देखते और मनन करते हैं। तत्त्वज्ञान के लिए क्रियात्मक प्रयत्न भी दिन-रात किया करते हैं। एक-दूसरे के विचारों को निर्णय की दृष्टि से देखकर सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग का प्रयत्न किया करते हैं जिसका

परिणाम यह होता है कि थोड़े काल तक मत-भेद भले ही रहे अन्त में प्राय: सहमत हो जाते हैं। जैसे खगोल विद्या के पाश्चात्य विद्वान् पहिले सूर्य्य का पृथ्वी के आसपास घूमना मानते थे, परन्तु अब पृथ्वी का सूर्य्य के आसपास चक्कर करना स्वीकार करते हैं और यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त हो गया। पहिले परमाणुओं को अयौगिक और अनादि बतलाते थे; पश्चात् उनको इलेक्ट्रन्स (electrons) अर्थात् विद्युत्कण से बना हुआ मानने लगे और अब इलेक्ट्रन्स (electrons) को भी ऐसा अर्थात् अयौगिक नहीं मानते। कुछ काल हुआ कि जब तत्त्व १०० के ऊपर माने जाते थे; अब सिद्ध हो गया कि मूल तत्त्व केवल एक है और यही वैदिक सिद्धान्त है। जैसा अघमर्षण मन्त्र में आ चुका है कि सृष्टि का उपादान कारण सत् है, परन्तु जब परा विद्या अथवा धर्म-सम्बन्धी विषयों का समय आता है तब हम इस प्रकार की छान-बीन करने से इन्कार कर देते हैं और उसका हेतु यह बतलाते हैं कि धर्म के विषयों में मनुष्य की अल्प बुद्धि को दख़ल नहीं; कोई धर्म बुद्धि की कसौटी पर कसा नहीं जा सकता! धर्म-सम्बन्धी बातों को तथा उनके मूल सिद्धान्तों को विश्वास के सहारे पर अङ्गीकार और स्वीकृत करना चाहिए।

प्रथम तो ऐसा करना मानुषी प्रकृति के विपरीत है, क्योंकि मनुष्य में विद्या और तत्त्वज्ञान की प्यास स्वाभाविक है। बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक क्या, कैसे और क्यों!

ये प्रश्न प्रत्येक समय, प्रत्येक वस्तु के लिए हमारे मन में उठा ही करते हैं और जब तक समाधान इनका नहीं हो जाता है चैन नहीं आता। इस तृष्णा को चाहे हम आलस्य, अन्धविश्वास इत्यादि के सहारे दबा भले ही लें, अथवा भुला दें, परन्तु वीर्य-हानि कभी नहीं होती। उसका प्रादुर्भाव समय पर हुआ ही करता है। इसी के सहारे हम स्कूलों और कालिजों में सदैव विद्योपार्जन किया करते हैं। हम ब्रह्मचर्याश्रम (Student-life) में ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव का अन्वेषण, छान-बीन बुद्धि-द्वारा किया करते हैं। इस प्रकार तत्त्वज्ञान उपलब्ध किया करते हैं। यही मानसिक वृत्ति हमारी स्वाभाविक सी हो जाती है। जिनमें यह वृत्ति पुष्कल हो जाती है वे ही स्वतन्त्र विचारवान् (Original thinkers) बन जाते हैं और अनेकानेक आविष्कार (discoveries) किया करते हैं और मनुष्य-जाति के विद्या-कोष की उन्नति का कारण बन जाते हैं। विविध विद्याओं तथा कलाओं के प्रवर्तक हो जाते हैं। एक ओर तो हमारी मानसिक वृत्ति प्रशंसित साँचे में ढाली जावे दूसरी ओर हमसे कहा जावे कि बड़े गूढ़ और महत्त्वपूर्ण धार्मिक विषयों को केवल विश्वास के सहारे मान लो और क्रियात्मक बना लो। ऐसा द्वैत-भाव हमारी मानसिक वृत्ति में एक साथ कैसे रह सकता है ? कदाचित् कुछ प्रयत्न किया जावे और मन को समझाया जाय कि आत्म-सम्बन्धी धार्मिक विषय गूढ़ातिगूढ़ होने के कारण मानुषी बुद्धि उनकी गम्भीरता को नहीं पहुँच

सकती वरन् वे युक्ति-शून्य, नियम-रहित, मनमानी गढ़न्त नहीं, उसके अन्दर सार भरा पड़ा है। परन्तु यहाँ पर एक प्रत्यक्ष आपत्ति आकर हमारे सामने खड़ी हो जाती है। वह यह कि एक कालेज के एक क्लास में दस विद्यार्थी पढ़ रहे हैं; परन्तु भिन्न-भिन्न मतावलम्बी होने के कारण उनको भिन्न-भिन्न मतों पर विश्वास करने के लिए उनके स्कूल व कालिजों के बाहर उपदेश किया जाता है। कुछ विद्यार्थियों को अपने घरों व उनके धार्मिक स्थानों में यह सिखलाया जाता है कि "अहिंसा परमो धर्मः" किसी को कष्ट न देना सबसे बढ़कर धर्म है। अन्य मतावलम्बी विद्यार्थियों से कहा जाता है कि बलिदान (पशुवध) ईश्वर की प्रसन्नता का कारण है। एक से कहा जाता है कि जीव अनादि है, दूसरे को बतलाया जाता है कि जीवों को ईश्वर ने पैदा किया। एक को समझाया जाता है कि मरने के पश्चात् जीव फिर किसी न किसी योनि में जन्म लेता है, दूसरे से कहा जाता है कि यह मिथ्या है। जीव का जन्म केवल एक बार होता है, उसके बाद उसको स्वर्ग वा नरक में सदा के लिए रहना पड़ेगा इत्यादि परस्पर विरोधी मसले अपने-अपने मतानुसार बतलाये जाते हैं। तब तो विद्यार्थियों के हृदय में यह प्रश्न अवश्य उपस्थित हो जाता है कि ये सबके सब परस्पर विरोधी मसले सत्य नहीं हो सकते। इनमें यदि एक सत्य है तो उसका विरोधी मत अवश्य असत्य है क्योंकि सत्य एक ही होता है और असत्य

बीसों हो सकते हैं। परिणाम यह निकलता है कि ये लोग धर्म-सम्बन्धी बातों को मनगढ़न्त या पोलिसीबाज़ी समझ-कर धर्म से विमुख अथवा उदासीन हो जाते हैं और कोई-कोई नास्तिक भी बन जाते हैं।

प्रागुक्त कथन का परिणाम यह निकला कि इसमें सायंस व फ़िलासफ़ी का कुछ भी दोष नहीं। यह हमारी शिक्षा-प्रणाली और मिथ्या पक्षपात का दोष है कि हम प्रायः धर्म-विमुख तथा ईश्वर-भक्ति से उदासीन हो रहे हैं और हमारे जीवन पर उनका विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। जब शिक्षित मण्डली की यह दशा है तो सर्वसाधारण तो प्रायः उनके अनुयायी हुआ करते हैं। वैदिक मतावलम्बी (हिन्दू) विद्या-र्थियों के लिए तो एक स्पष्ट आपत्ति अँगरेज़ी स्कूलों तथा तत्सम्बन्धी अन्यान्य पाठशालाओं में है कि भारतवर्ष का इति-हास जो पढ़ाया जाता है उसके आदि खंड में ही वेदों की धज्जियाँ उड़ाई गई हैं। हम वेदों को ईश्वरीय ज्ञान कहते व मानते हैं, पूर्वोक्त इतिहास उनको जंगली गडरियों के गीत बत-लाता है। इसी प्रकार की अन्य अनर्गल बातों से ये इतिहास भरे पड़े हैं। यद्यपि ये बातें ऊटपटांग, असत्य, प्रमाण-शून्य हैं, तथापि जब वे बच्चों के हृदयांकित हो जाती हैं तब उनका ज़हरीला असर विद्यार्थियों के हृदय में वैदिक धर्म को हत नहीं तो मृत-प्राय अवश्य कर देता है।

वर्त्तमान समय में धर्म से उदासीनता का विशेष कारण

यह भी है कि प्राचीन काल में हमारा लक्ष्य निःश्रेयस् हुआ करता था, अर्वाचीन काल में अभ्युदय रह गया है। मनुष्य समुदाय इस समय में सांसारिक विषयों और ऐश्वर्य-प्राप्ति में विशेषरूप से संलग्न हो रहा है माना यही मनुष्य-जीवन का अभीष्ट है। प्राचीन काल में सांसारिक उन्नति गौण और पारमार्थिक उन्नति मुख्य मानी जाती थी, दूसरे शब्दों में यों कहिए कि इस समय में मनुष्यों ने अपना आदर्श ईश्वर के स्थान में प्रकृति को बना लिया है। इसी लिए मनुष्य के कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का वृत्त (दायरा) संकीर्ण हो रहा है, पारमार्थिक विषयों से उदासीनता हो गई है और क्रियात्मकरूप से धर्म हमारे जीवन का मुख्य अंग नहीं रहा।

तीसरा कारण धर्म से उदासीनता, क्रियात्मक धर्म-शिक्षा का अभाव है। सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी शिक्षालयों में तो विद्यार्थियों को कोई यह भी नहीं पूछता कि तुम यह भी जानते हो कि ईश्वरोपासना किसको कहते हैं। बहुत से विद्यार्थी तो सन्ध्योपासन आदि नित्य-कर्मों का नाम भी नहीं जानते। वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली में तो बुद्धि-परक (intellectual) और शारीरिक उन्नति के अतिरिक्त मानसिक (आत्मिकोन्नति) का तो कोई स्थान ही नहीं। न्याय, मीमांसा, प्राकृतिक ज्ञान-सम्बन्धी अनेकानेक पाठ्य पुस्तकों का पढ़ना, उन विद्याओं का क्रियात्मक रूप से स्पष्टीकरण कराना इत्यादि विविध प्रकार से हमको शिक्षा दी जाती है, जिससे हमारी बुद्धि का विचित्र

विकास अवश्य होता है, साथ ही शारीरिक उन्नति के लिए व्यायाम (Gymnastics) को शिक्षा-प्रणाली का एक अंग बना दिया है परन्तु मनुष्य-जीवन का सर्व-श्रेष्ठ तथा मुख्य उद्देश आत्मोन्नति को शिक्षा-प्रणाली मे कोई स्थान ही नहीं दिया जाता। यथार्थ शारीरिक उन्नति तथा बुद्धि के विकास से आत्मिकोन्नति को सहायता अवश्य मिलती। अपरा विद्या के अभ्यासी को परा विद्या में सुगमता अवश्य हो जाती है परन्तु वास्तविक आत्मोन्नति उससे नहीं होती। काम, क्रोधादि को वश में करना, चित्त की वृत्तियों का निरोध, यम-नियमों का पालन आदि कभी स्वप्न में भी तो हमको विद्यालयों में नहीं बतलाया जाता। हमारे जीवन का सांसारिक लक्ष्य क्या होगा, इसको तो हम विद्यारम्भ से ही रट चलते हैं। इतना ही नहीं वरन् सर्वोत्तम शिक्षाप्रणाली वही समझी जाती है कि उस लक्ष्य के अनुसार विद्यार्थी की पाठ्य-विधि होनी चाहिए। क्या कभी विद्यार्थियों को यह भी बतलाया जाता है कि इस मनुष्य-जीवन का उद्देश्य क्या है। शरीरान्त के पश्चात् वह कौन सी कमाई है जो हमारे साथ होगी—"अथ त्रिविधिदुखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" (सां० अ० १ सू० १) अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीनों प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति का नाम अत्यन्त पुरुषार्थ है। उस पुरुषार्थ का विचार भी कभी विद्यार्थियों के कान तक नहीं पहुँचाया जाता है, उसका मनन व निदिध्यासन तो दूर रहा।

अब मैं अन्त में आपको यह बतलाना चाहता हूँ कि अघमर्षण के मन्त्र नास्तिकता, धर्म से उदासीनता और सांसारिक विषयों में अनुचित अनुराग (Materialistic tendency) से रोकने के लिए विशेष औषधि हैं।

जब मनुष्य का यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि उसके लिए इस जीवन के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं; जन्म से प्रथम हम कुछ न थे और मरण के पश्चात् भी कुछ न रहेंगे तो मनुष्य का समस्त कर्म-क्षेत्र तथा सुख-दुःख की सीमा यही ५०-६० वर्ष मानुषी जीवन के अन्तर्गत रह जाती है। उसके कर्त्तव्याकर्त्तव्य की परिधि बहुत संकीर्ण हो जाती है। उसका आदर्श बहुत ही तुच्छ हो जाता है। यह संकीर्णता इस कारण और भी बढ़ जाती है कि मनुष्य-जीवन के कर्म-फल-भोग का दायरा बहुत ही परिमित हो जाता है। एक ओर एक ऐसे विचारशील पुरुष को लीजिए कि जिसका दृढ़ विश्वास यह है कि वह केवल जल, वायु, अग्नि, पृथ्वी और आकाश तत्त्वों का समूह नहीं वरन एक अजर-अमर चैतन्य शक्ति है। उसके गुण-अवगुण इस शरीर के साथ ही भस्मीभूत नहीं हो जाते, उसके कर्मों के संस्कार उसके सूक्ष्म शरीर के साथ रहते और पुनर्जन्म में उनका प्रादुर्भाव होता है। उसके कर्म-फल न केवल इस योनि ही तक सीमाबद्ध हैं वरन् पर जन्म में भी बिना भोगे उनसे पीछा नहीं छूटता और जन्म-जन्मान्तर के सद्गुणों, विद्योपार्जन और ज्ञान-प्राप्ति से आत्मिक विकास इतना बढ़ जाता

है कि यह आत्मा प्राकृतिक बन्धनों से छूटकर मोक्षपद को प्राप्त हो जाता है और स्वेच्छाचारी होकर इस ब्रह्माण्ड मे स्वतन्त्रता-पूर्वक विचरता है और जन्म-जन्मान्तर के दुःसह दुःख से मुक्त हो जाता है। ऐसे पुरुष को अपने कर्त्तव्य कर्मों का क्षेत्र बहुत विस्तृत दृष्टिगोचर होता है और उसको अपने सञ्चित प्रारब्ध क्रियमाण तथा कायिक, वाचिक, मानसिक कर्मों पर गम्भीर दृष्टिपात करना होता है। दूसरी ओर एक ऐसे व्यक्ति को लीजिए कि जिसका यह दृढ़ विश्वास हो रहा है कि यह मनुष्य पानी का सा बुलबुला जल-वायु के संयोग से उत्पन्न हुआ और क्षणिक है। फिर हवा मे हवा और जल में जल मिल जावेगा, हमारे गुण-अवगुणों की पराकाष्ठा इसी शरीर तक है और शुभाशुभ कर्मों का फल इस जीवन की कीर्ति-अपकीर्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। हमारे कुत्सित कर्मों का फल-दाता समाज और राष्ट्रीय व्यवस्था के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं। हमारे बहुत से परोक्ष कार्य ऐसे हैं जिनका जाननेवाला तक कोई नहीं और न उनका कोई फल-दाता हो सकता है। ऐसे मनुष्य को धर्म-कार्यों के करने के लिए क्या विशेष उत्तेजना रह जाती है? "परोपकाराय सतां विभूतयः" इत्यादि कथन तो ऐसों के लिए निरर्थक से हो जाते हैं! यह तो रही दशा उच्च कोटि के मनुष्यों की, परन्तु साधारण तथा नीच कोटि के मनुष्यों के ऐसे विश्वास तो उनको पापाचरण में ही लिप्त कर देते हैं। यही कारण है कि नास्तिकता को पापों का प्रवर्त्तक कहा जाता है।

यदि इस संसार की विविध जातियों के धार्मिक इतिहास पर दृष्टि डाली जावे तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मनुष्यों में किसी न किसी प्रकार की परोक्ष शक्ति के मानने की स्वाभाविक प्रेरणा पाई जाती है। वह परोक्ष शक्ति अति बलवती है और प्राकृतिक संसार तथा चैतन्य भूतों की संचालक है और संसार की सारी घटनायें उसके अधीन समझी जाती हैं। सभ्य-असभ्य, शिक्षित-अशिक्षित सभी मनुष्य-समुदायों पर यह बात चरितार्थ होती है। उसके साथ ही साथ एक और प्रेरणा पाई जाती है कि सारे मनुष्य-समुदाय में किसी न किसी प्रकार का धर्म मनुष्य-जाति के सामाजिक संगठन के लिए परमावश्यक समझा जाता है; चाहे वह वैदिक अथवा ईसाई, मूसाई, इस्लामी धर्म हो किंवा मनुष्य-धर्म (Religion of Humanity), स्वाभाविक धर्म (Natural Religion) हो।

अब विचारणीय यह बात है कि जब किसी न किसी परोक्ष शक्ति तथा किसी न किसी प्रकार का धर्म मानने व स्थापित करने की प्रेरणा मनुष्य-जाति में स्वाभाविक है तब फिर कभी-कभी इतने वेग के साथ नास्तिकता की लहर और धर्म की उदासीनता क्यों हो जाती है, जिसके कारण ईश्वर का अस्तित्व और धर्म की मानता बड़े ख़तरे में पड़ जाती है। गहरी दृष्टि डालने पर पता चलेगा कि इसका मूल कारण कपोल-कल्पित मतमतान्तर तथा अन्ध-विश्वास मतावलम्बी हैं। इन मतमतान्तरों में बहुत सी बातें सृष्टि-क्रम तथा बुद्धि के विरुद्ध पाई जाती हैं।

बहुत सी कपोल-कल्पित, निर्मूल बातें धर्म का अङ्ग समझी जाती हैं। जब विद्या-भानु का प्रकाश होता है और प्राकृतिक ज्ञान के सहारे विद्वान् लोग अपने अन्वेषण और अनुभव से छान-बीन के अभ्यासी हो जाते हैं तो उनको मतमतान्तरों की ऐसी पोच बातों पर विश्वास लाना दुस्साध्य हो जाता है और उनके हृदय में विविध प्रकार की शङ्काएँ उत्पन्न हो जाती हैं। मत-वादी उन शङ्काओं का समाधान करने में अपने आपको असमर्थ पाकर इन स्वतन्त्र विचार-वादियों को नास्तिक इत्यादि कहने लगते हैं, जिससे यह विचार उत्पन्न हो जाते हैं कि ईश्वर तथा धर्म इन मतवादियों की कपोल-कल्पित गढ़न्त है। दूसरे धर्म के अन्धविश्वासी कभी स्वतन्त्र, पक्षपात-रहित विचारों को अपने मत के विषयों में दख़ल देने को तैयार नहीं, यदि तैयार भी हो गये तो वहीं तक जहाँ तक कि वे विचार उनके मत के पोषक हैं। यदि नैयायिक और मीमांसक विचार उनके (मतवादियों) मन्तव्यों के विरुद्ध पड़ने लगते हैं तो पाखण्ड-विवाद और वितण्डा-वाद बढ़ाकर सत्य के ग्रहण करने पर कभी उद्यत नहीं होते। इससे स्वतन्त्र निष्पक्ष विचार रखनेवालों का विश्वास धर्म से ही विलग हो जाता है और इस तरह पर अनीश्वरवाद तथा धर्म से उदा-सीनता बढ़ जाती है। वे जब सर्वसाधारण विद्वन्मण्डली के क्रियात्मक जीवन में ईश्वर-परायणता और धर्म-विश्वास का अभाव पाते हैं तब उनका अनुकरण करने लगते हैं और इस

प्रकार परमार्थ से मुख मोड़ सांसारिक स्वार्थ में लिप्त हो जाते हैं। एवंविध मानवी समुदाय में प्रकृति-पूजा (Materialism) के भाव बलवान् होने लगते हैं। इस भाँति की आपत्तियों से जनवृन्द को सुरक्षित रखने के लिए प्रागुक्त अघमर्षण के मन्त्र अति उपयोगी हैं। जिस मनुष्य के विचार अघमर्षण के मन्त्रों के अर्थ तथा सिद्धान्तों को मनन करते-करते इतने उच्च और गम्भीर हो जायँगे वह भली भाँति समझ जायगा कि सृष्टि की उत्पत्ति, क्रम, तथा ईश्वर व सृष्टि का सम्बन्ध और ईश्वर की शासन-प्रणाली इस जगत् में क्या है; जो मनुष्य सायं-प्रातः ऐसे विचारों की स्फूर्त्ति करते-करते उनका अभ्यासी हो जावेगा तो उसको सायंस और फ़िलासफ़ी के नवीन से नवीन और कठिन से कठिन मसले श्रद्धा और बुद्धि की आँखों के सामने ज़रा भी चकाचौंध पैदा नहीं कर सकते, क्योंकि वह तो ऐसे सिद्धान्तों का अभ्यासी हो रहा है। क्या सायन्स के बाष्पवाद (Nebular Theory) के पठन-पाठन के पश्चात् उसका यह विचार उत्पन्न हो सकता है कि सृष्टि-रचना के लिए किसी सृष्टि-कर्त्ता की आवश्यकता नहीं। वह तो बाष्पवाद से सृष्टि-रचना के विषय में कई अंश ऊँचा हो चुका है। उसका तत्काल यही विचार होगा कि अघमर्षण के मन्त्र में जो अर्णव समुद्र का वर्णन आया है उसी का बाष्पवाद एक रूपान्तर है। बाष्पवाद यह नहीं बतलाता है कि बाष्प (Nebulæ) कहाँ से आई और कैसे उत्पन्न हुई! इस विषय में वह मौनावलम्बन किये हुए है

परन्तु अघमर्षण का मन्त्र उससे कई अंश बढ़ा हुआ है और बतलाता है कि अर्णव समुद्र कैसे पैदा हुआ। प्राय: विकासवाद (Evolution Theory) के विद्यार्थियों का यह विचार हो जाता है कि विकासवाद सृष्टि-रचना का ऐसा विवरण है जिससे सृष्टि की रचना स्वयं होना प्रतीत होती है और किसी सृष्टि-कर्त्ता की उसके लिए आवश्यकता शेष नहीं रहती। परन्तु विकासवाद यह बताने में असमर्थ है कि विकास का आरम्भ कब और कैसे हुआ। विकासक्रम (Evolution-process) अनादि कभी नहीं हो सकता, क्योंकि जो वस्तु घटती-बढती है वा बनती-बिगड़ती है अर्थात् परिवर्तनशील है उसका आरम्भ कभी न कभी होना आवश्यक है।

फिर इस जड़ प्रकृति (Matter) को यह ज्ञान कहाँ से आया कि मैं विकास का आरम्भ करूँ। प्रकृति चैतन्य नहीं, स्वयं विकासवाद के सिद्धान्तानुसार चैतन्यता का तो बहुत काल और बहुत दर्जे (Stages) तय करने के पश्चात् जगत् में प्रादुर्भाव हुआ और उसका भी यह सिद्धान्त प्रकृति के कार्य का परिणाम मानता है। कोई चैतन्य शक्ति प्रकृति से पृथक् नहीं बतलाता और न यह बतलाता है कि जड़ से चैतन्य उत्पन्न होना किस प्रकार सम्भव है और इस विकास का अन्तिम अभीष्ट (Ultimate goal) या निर्दिष्ट स्थान क्या है ? यह भी विकासवाद नहीं बतला सकता! इत्यादि बहुत-सी शंकाएँ विकासवाद के विषय में उत्पन्न होती हैं जिनका समा-

धान उनके अनुयायी नहीं कर सकते, जिससे विदित होता है कि विकासवाद सृष्टि-रचना का पूरा-पूरा विवरण नहीं है। परन्तु इन सब बातों का उत्तर अघमर्षण के मंत्र में अति सन्तोषजनक मिलता है कि सत् में विकास-शक्ति ऋत और तप के संयोग से उत्पन्न हुई और यह "ऋत" व "तप" उस अनादि, अनन्त और सर्वव्यापक शक्ति के गुण हैं जिसको सृष्टि-कर्त्ता कहते हैं। इसलिए यदि विकासवाद का विद्यार्थी सन्ध्योपासन का अभ्यासी होगा और किसी सद्गुरु के समक्ष उसने अघमर्षण मन्त्रों के सिद्धान्त को विचारा होगा तो उसको विकासवाद के पढ़ते समय ईश्वर व धर्म पर और भी विश्वास दृढ़ होता जायगा और अनीश्वरवादी होना तो दूर रहा वह अनुभव करेगा कि विकासवाद अघमर्षण-मन्त्रों द्वारा वर्णित सृष्टि-रचना का एक अङ्ग है और इसी लिए अपूर्ण है—जैसे विविध अवयव शरीर से पृथक् पूर्ण रूप को प्रकाश नहीं कर सकते इसी प्रकार वाष्पवाद और विकासवाद सृष्टि-रचना का साङ्गोपाङ्ग विवरण नहीं दिखला सकते। जब इस जगत में ऐसे विश्वासी विद्वानों की अधिकता होती है तो पूर्व-कथित पूर्वापर-विरुद्ध अथवा परस्पर-विरोधी मतमतान्तरों का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। यदि कहीं हुआ भी तो ऐसे दृढ़-विश्वासी विद्वान् महात्माओं की विद्यमानता के कारण धार्मिक-दुनिया में यह निराशा कदापि सिर नहीं उठा सकती कि मतमतान्तरों के विवादास्पद झगड़ों के निवारणार्थ कोई उपाय

नहीं। धर्म का यथेष्ट निर्णय कदापि नहीं हो सकता। धर्म केवल विश्वासमात्र के आधार पर स्थित है।

यहाँ पर एक यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि सन्ध्योपासना, जिसका अघमर्षण के मंत्र एक अङ्ग हैं, बाल, वृद्ध, साधारण तथा विद्वान् सबके लिए नित्य कर्म-विधि है। फिर ऐसे गूढ़ मीमांसा-युक्त तथा वैज्ञानिक विषय का नित्य कर्म-विधि में रखना बड़ी भूल है; क्योंकि इन प्रश्नों पर तो बड़े से बड़े फ़िलासफ़रों के मस्तिष्क चक्कर खाते हैं और पूर्णतया उनका ज्ञान होना यदि असम्भव नहीं तो बड़े-बड़े विद्वानों के लिए भी अति कठिन है। संध्योपासन का समय प्रायः ८ व १२ वर्ष की अवस्था से ही आरम्भ हो जाता है। फिर ऐसे बच्चों से क्या आशा की जा सकती है कि वे अघमर्षण के मन्त्रों से लाभ उठा सकते हैं। वेद, शास्त्र, मीमांसा के पढ़नेवाले पण्डितगण इन मन्त्रों का गूढ़ाशय समझकर भले ही लाभ उठा सकें और पाप से बचकर अपने अभीष्ट को पहुँच सकें, परन्तु साधारण कोटि के मनुष्य तो इससे कुछ लाभ नहीं उठा सकते, क्योंकि इन सिद्धान्तों को जो युरोपियन फ़िलासफ़ी के बड़े से बड़े मन्तव्यों से परे बतलाये जाते हैं वे लोग क्या समझ सकते हैं और इसी लिए सन्ध्योपासन करनेवालों में से एक बड़ी संख्या के लिए यह अघमर्षण मंत्र निष्फल है—इस शङ्का का प्रथम समाधान तो यह है कि ज्ञान-मार्ग स्वाभाविक है। जैसे इस भौतिक स्थूल शरीर को क्षुधा,

तृषा सताया करती हैं और उसकी निवृत्ति के लिए अन्न, फल, फूल और जलादि की नित्य आवश्यकता पड़ा करती है उसी प्रकार अन्तःकरण चतुष्टय को भूख-प्यास सताया करती है और प्रतिक्षण इसको नित्य-नूतन बातों के जानने को क्यों, क्या, कैसे, ये प्रश्न उठा करते हैं और जब तक ज्ञानरूपी भोजन प्राप्त नहीं होता, सन्तोष नहीं होता । दूध पीते हुए बच्चों से लेकर १०० वर्ष के बुड्ढों तक की यही मानसिक वृत्ति रहा करती है । अलबत्ता जैसे विशेष-विशेष रोगों के कारण हमारी अन्न की क्षुधा कभी-कभी मन्द हो जाती है इसी प्रकार विषय, भोग, आलस्य आदि कारणों से हमारी मानसिक क्षुधा भी कभी-कभी मन्द हो जाती है । परन्तु ज्ञान-प्राप्ति मनुष्य-योनि का मुख्य धर्म है ।

यदि विचार-पूर्वक देखा जावे तो न केवल अघमर्षण के इन मन्त्रों में ही वरन् वेद के प्रायः सम्पूर्ण मन्त्रों में यह एक उत्तमता पाई जाती है कि उनके सरल से सरल अर्थ और उनमें साधारण से साधारण शिक्षा मिलती है परन्तु उनके अनेकार्थ और उनकी तह में गूढ़ से गूढ़ सिद्धान्त भरे पड़े हैं । उदाहरणार्थ अघमर्षण के मन्त्रों को ही लीजिए । इनका साधारण अर्थ यह होता है कि ईश्वर के पूर्ण ज्ञान और उसकी महती शक्ति के प्रभाव से सृष्टि की रचना की सामग्री (जिसको सत् कहते हैं) में एक प्रकार का जीवन पड़ा, जिससे उसमें हलचल पैदा हुई और महत्तत्व का समुद्र उत्पन्न होकर सृष्टि-रचना का

आरम्भ हुआ, जिसको संवत्सर अर्थात् ब्रह्म-दिन और ब्रह्म-रात्रि भी कहते हैं, फिर दिन-रात अर्थात् सूर्य्य-चन्द्रमा इत्यादि लोक-लोकान्तर, जिनसे रात्रि-दिवस का निर्माण होता है, उत्पन्न हुए और इस सारी रचना का जगदीश्वर स्वयं ही शासक, पालक और सञ्चालक भी हुआ। ईश्वर ने सूर्य, चन्द्र इत्यादि सारी रचना को पूर्ववत् ही बनाया है। भावार्थ यह कि सृष्टि की रचना ज्ञानस्वरूप सर्वशक्तिमान् परमात्मा करता है। सृष्टि-रचना की सामग्री नित्य है। सारी सृष्टि उसी की रची हुई और प्रवाह से अनादि है। ईश्वरीय ज्ञान पूर्ण एकरस है। इसलिए उसके निर्धारित नियमानुसार सृष्टि-रचना अनादि काल से ऐसी ही होती चली आई है। जो इस सृष्टि का रचयिता है वही इसका शासक, पालक, पोषक, सञ्चालक और कर्म-फल-दाता है।

यदि इस पर विचार किया जाय तो इससे वैदिक शिक्षा की उत्तमता और ऋषियों की बुद्धिमत्ता स्पष्ट विदित होती है। इन मन्त्रों में बड़े गम्भीर और उच्च कोटि के विषयों का एक साधारण ऐतिहासिक घटना के रूप में वर्णन कर दिया है। मन्त्रों के अर्थों पर यदि विशेष विचार किया जावे तो उनमें सृष्टि-रचना-क्रम क्या है? उसके निमित्त और उपादान कारण क्या हैं? यह प्रवाह से अनादि है। ईश्वर उस पर शासन करता है; इत्यादि-इत्यादि बड़ी गम्भीर बातों को एक साधारण घटना के रूप में वर्णन करना पाया जाता है,

जिसको एक बालक भी सीख सकता है और यह शिक्षा-प्रणाली स्वाभाविक भी है कि जिसका अनुकरण व्यावहारिक रूप से हम किया करते हैं। पाठशालाओं में हम आरम्भिक कक्षाओं में बच्चों को खगोल-विद्या आदि का साधारण बोध कराना आरम्भ करते हैं कि सूर्य्य के आस-पास पृथ्वी घूमती है और पृथ्वी की वार्षिक गति से ऋतु और उसकी दैनिक गति से रात्रि-दिवस उत्पन्न होते हैं; चन्द्र-ग्रहण, सूर्य्य व चन्द्रमा के बीच में पृथ्वी के आ जाने से होता है और सूर्य्य-ग्रहण, सूर्य व पृथ्वी के बीच में चन्द्रमा के आ जाने से होता है; इत्यादि सिद्धान्त बच्चों को कंठस्थ करा देते हैं। ज्यों-ज्यों बच्चों की शिक्षा की उन्नति होती जाती है उनके ज्ञान का विकास होता जाता है। वे प्रागुक्त बातों का अनुभव करते जाते हैं, उन पर उनकी सत्ता स्पष्ट होती जाती है। इस प्रकार उनको इन विषयों का ज्यों-ज्यों विशेष ज्ञान प्राप्त होता जाता है, त्यों-त्यों वे अपने प्रथम पढ़े हुए विषयों को साक्षात् करने लगते हैं। साधारण ज्ञान विज्ञान की प्रथम सीढ़ी हुआ करती है। साधारण ज्ञान के स्वयं भी बहुत लाभ हुआ करते हैं। जिन विद्यार्थियों को उपर्य्युक्त साधारण शिक्षा दी जा चुकी है वे अज्ञानान्धकार से बचे रहते, कि सूर्य्य पृथ्वी के गिर्द घूमता है अथवा सूर्य्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण के विषय में जो ढकोसले विविध प्रकार प्रचरित हैं उनमें फँसने से बच जाते हैं। इसी प्रकार सन्ध्योपासन के मन्त्र ऋषियों ने तत्त्वज्ञान-बोधक और उपयोगी

देखकर रक्खे हैं जिससे साधारण बुद्धि का मनुष्य भी लाभ उठा सकता है । आरम्भ में सामान्य बुद्धि और योग्यता के बालकों को इन मन्त्रों के अर्थ तथा अभिप्राय का बोध साधारण रूप से करा दिया जाता है और फिर ज्यों-ज्यों विद्या-वृद्धि व बुद्धि का विकास होता जाता है मंत्रों के गूढ़ाशय का साक्षात् होने लगता है ।

भक्तिभाव

यहाँ पर यह शंका किन्हीं-किन्हीं को उत्पन्न होना सम्भव है कि इन मंत्रों में कुछ त्रुटि यह दिखाई देती है कि इनमें भक्ति-भाव का वर्णन नहीं आया, जो ईश्वर-परायणता का मुख्य अङ्ग है अर्थात् इनमें केवल ज्ञान-मार्ग है, भक्ति-मार्ग नहीं जो ईश्वर-प्राप्ति का एक सुगम उपाय है। उनमें दार्शनिक विचार तो अवश्य हैं परन्तु यह ज्ञान-मार्ग है जो अति कठिन और दुस्साध्य है।

यदि विचार-पूर्वक देखा जावे तो बिना ज्ञान के भक्ति का होना असम्भव है। किसी अज्ञेय अथवा अज्ञात वस्तु के प्रति भक्ति हो ही नहीं सकती। वह ज्ञान चाहे शब्द-मात्र से ही हुआ हो, (अर्थात् सुना-सुनाया ही हो) अथवा अनुमान-मात्र हो। जब तक किसी वस्तु के गुणों का कोई बोध, अनुमान इत्यादि, हमको नहीं होता उसके प्रति प्रेम का भाव अथवा पूज्य भाव आदि हमारे हृदय में उत्पन्न नहीं हो सकता।

दूसरे वे लोग जो ईश्वर-सम्बन्ध में ज्ञान तथा भक्ति को पृथक्-पृथक् बतलाते व मानते हैं, बड़ी भूल करते हैं। ईश्वर-भक्ति बिना ज्ञान का अन्धविश्वास है जो मनुष्य को प्रायः अज्ञान-कूप की ओर ले जाता है; अथवा यों कहिये कि मनुष्य धर्म के हृष्ट-पुष्ट शरीरमें पाखंड व वितंडावाद-द्वारा मतमतान्तरों का कठिन

रोग उत्पन्न कर देता है। तब मनुष्य अपनी कपोल-कल्पित कल्पनाओं को अपना पूज्यादर्श बनाने लगता है और उस शुद्ध-स्वरूप, निराकार, निर्विकार, ज्ञानस्वरूप, अखंड, अछेद्य, अभेद्य, सर्वज्ञ व सर्वव्यापी परमात्मा के स्थान में किसी मनुष्य अथवा अन्य प्राकृतिक क्षुद्र वस्तु को अपना पूज्य इष्टदेव बना लेता है अथवा उस शुद्ध-बुद्ध सच्चिदानन्द में मानुषी कल्पनायें करते-करते उसके वास्तविक स्वरूप को भुला बैठता है।

उपर्युक्त कथन का कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होता है। यदि संसार के विविध मतों के इतिहास का अवलोकन किया जाय तो यह बात स्पष्ट होती है कि मनुष्य में स्वाभाविक प्रवृत्ति पाई जाती है कि वह किसी या किन्हीं दैवी शक्ति या शक्तियों को अपना पूज्यादर्श बना ले और इस प्रवृत्ति का मार्ग-प्रदर्शक यदि कोई सद्गुरु या सद्ग्रंथ नहीं होता अथवा इस हृदयस्थ वीर्य का शुद्ध और उच्च आचार-विचाररूपी जल-वायु से पालन-पोषण नहीं होता और उसके यथेष्ट रूप से उगने तथा फलने-फूलने के लिए विद्यारूपी सूर्य्य की किरणें उत्तम स्वास्थ्य और यथेष्ट उष्णता नहीं पहुँचातीं तो उसकी एक कटीली झाड़ी बन जाती है और मनुष्य-जन्मरूपी कल्पवृक्ष, जिसके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार उत्तम फल हैं, के स्थान में पाखण्डवाद के नाना प्रकार के झाड़-झंखाड़ चारों ओर दृष्टिगोचर होने लगते हैं, जिनके फूल मतमतान्तर और फल वादाविवाद, कलह, क्लेश आदि हुआ करते हैं। इन विविध मतों के मन्तव्य,

उनके पूज्यादर्श के गुण, कर्म, स्वभाव से मिलते-जुलते हुआ करते हैं। जितना कोई मत, बुद्धि और ज्ञान की कसौटी से पृथक् होता जाता है और केवल विश्वास व कल्पनाओं की ओर झुकता जाता है उतना ही उसमें पक्षपात, ईर्ष्या, द्वेष, हठ इत्यादि घर करते जाते हैं जिसका परिणाम दुःख है। क्रूसेड (मतवादी युद्ध) और जिहाद ने कितने खान्दानों और देशों का नाश किया, बाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुषों को तलवार के घाट उतारा, अमूल्य पुस्तकालय जलाये, धर्म के नाम पर स्मरणीय विद्वानों, महापुरुषों को हलाहल पिलाया गया, सूली दी गई इत्यादि-इत्यादि—कौन सा घृणित से घृणित काम नहीं किया गया।

इष्टदेव प्रायः कोई परोक्ष शक्ति हुआ करती है। चाहे वह व्यक्तरूप हो अथवा अव्यक्त। उसमें कुछ न कुछ गुण, कर्म, स्वभाव, मानना अनिवार्य है। ऐसी दशा में सद्गुरु के अभाव में मनुष्य अपनी परिस्थिति, देश-कालानुसार अपने विचार तथा अनुभव के अनुसार उस परोक्ष शक्ति में गुण, कर्म, स्वभाव की कल्पना करने लगता है। इस भक्ति-भाव के यथार्थ-ज्ञान-रहित होने की दशा में हम उस परोक्ष शक्ति को पूज्यादर्श के स्थान मे मानुषी रूप धारण कराने लगते हैं और इन्सानी जामा पहना देते हैं, यहाँ तक कि उस शुद्ध स्वरूप, निर्विकार परमात्मा में इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, काम, क्रोध, पक्षपात, इत्यादि समस्त मानुषी विचार तथा

दुर्बलता मान लेते हैं। वह मनुष्यों की भाँति क्रोध करता, श्राप देता, पश्चात्ताप करता, और उसको बिचमानी की भी आवश्यकता पड़ती है। उसके रहने का विशेष स्थान भी है। वह जन्म लेता और मरता भी है। उसमें अल्पज्ञता भी पाई जाती है, अपने भक्तों के विश्वास तथा भक्ति की आज़माइश व जाँच भी करता है। उसके विशेष भक्तों, नबियों को उसके प्रसन्नतार्थ अपने पुत्रों का बलिदान भी करना पड़ता है। स्वयं उसके इकलौते पुत्र को मनुष्यों से उसका मेल कराने के लिए जन्म लेना पड़ा और मनुष्यों के पाप क्षमा कराने के लिए शूली चढ़ाना पड़ा। वह यहाँ तक भक्तवत्सल है कि अपने भक्तों व अपने नबियों के अनुयायियों की प्रसन्नता के निमित्त बहिश्त में हूरू-ग़िलमा भी बहम पहुँचाता है। एक हिन्दी कवि ने उसकी भक्तवत्सलता का आश्चर्यजनक चित्र इस प्रकार खींच दिखलाया है:—

कवित्त

वेदन ढूँढ़ों पुराणन ढूँढ़ों, नित्य सुने चित चौगुने चायन।
देखो कबहूँ न किसहूँ कितहूँ, वह कैसे स्वरूप औ कैसे सुभायन॥
खोजत-खोजत थाकि फिरयो कवि देव बतायो जो लोग-लुगायन।
देखो कहाँ वह कुंज गलीन में डारो पै लोटत राधिका पायन॥

इसी प्रकार एक फ़ारसी के प्रख्यात कवि ने हज़रत मुहम्मद की प्रशंसा और उनका सम्बन्ध ख़ुदा से यों वर्णन किया है।

اگر تیرے قضا صافی کشا داست
کمالے ابرویش را خانہ را داست

(अर्थ) यद्यपि ईश्वरीय व्यवस्था अचूक है परन्तु उसकी (हज़रत मुहम्मद साहब की) भृकुटि-संकेत की दास है। विस्तार-भय और असभ्यता एवं अश्लीलता के दोष से पुस्तक को बचाने के लिए प्राचीन तथा अर्वाचीन मतमतान्तरों के पूज्य देवों के उन भयानक घृणित, अश्लील, चित्रों को जिनके श्रवण-मात्र से रोमाञ्च होता है यहाँ पर छोड़ दिया है। केवल एक उदाहरणमात्र उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा।

मेडेगास्कर टापू में एक जाति रहती है। वह क्वारी कन्या का बलिदान अपने देवता को प्रसन्न करने के लिए बड़ी निर्दयता से किया करती है। वहाँ वाले उसको एक मांस-भक्षी वृक्ष के पास ले जाते हैं और भाले छेदने का भय देकर उस काँपती, रोती हुई कन्या को उस पेड़ पर चढ़ने को बाध्य करते हैं। जब वह ऊपर चढ़ जाती है तब उस निर्दयी पेड़ की डालियाँ और काटेदार पत्ते उसको दबोच लेते हैं और उसका ख़ून चूमने लगते हैं और निर्दयता से उस बेचारी कन्या का प्राणान्त कर डालते हैं। जिस समय इस पेड़ से कुछ लाल पानी-सा, जो सम्भवतः पेड़ का रस ख़ून मिला हुआ होता है, टपकने लगता है तब ये लोग नाचते-गाते और ख़ुशी मनाने लगते हैं कि अब देवता प्रसन्न हुआ। (आर्य गज़ट १४ दिसम्बर, सन् १९२२ ई०)

फलतः जब मनुष्य का पूज्यादर्श ही सारी इन्सानी कमज़ोरियों, काम, क्रोधादि का शिकार हो गया; खुशामद-पसंद, पक्षपातादि दोषों के वशीभूत हो गया, तो उसके भक्तों—अनुयायियों—की कथा तो अवश्य अकथनीय ही होगी। शुद्ध आत्मोन्नति की पराकाष्ठा को पहुँचना उनके लिए पूर्वापर-विरोध सी बात दिखाई देती है।

पूर्वोक्त परिणाम के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि जब सभी मतों तथा पन्थों में अनेक सज्जन, महात्मा, ज्ञानी हुए और होते हैं तब यह कहना कि उनके पूज्य देवों के गुण, कर्म, विकारी होने से उनके पूजक भी वैसे ही बन जाते हैं, ठीक नहीं ?

इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो इने-गिने विपरीत उदाहरणों से किसी नियम-पूर्वक (logical conclusion) उद्भूत परिणाम का खण्डन नहीं हो सकता। सर्वतन्त्र सिद्धान्त यह है कि मनुष्य-जीवन के ढालने का मंत्र केवल उसका आदर्श है। चाहे कोई अपने आदर्श तक न पहुँचे परन्तु आदर्श से उच्च बनना तो असम्भव है। यदि आप ऐसे सज्जनों के जीवन-चरित्र को ध्यान-पूर्वक पढ़ें और उनके जीवन की घटनाओं पर सूक्ष्म दृष्टि डालें तो इस परिणाम को पहुँचेंगे कि यद्यपि नाम-मात्र को वे ऐसे मत या पन्थों के अनुयायी कहाते हैं कि जिनका आदर्श निकृष्ट है वरन् वे स्वयं किसी उच्चादर्श के अनुयायी हैं—किसी पूर्ण योगी साधु के सत्संग से ऐसा हुआ हो अथवा किन्हीं विशेष घटनाओं के कारण उनकी बुद्धि ने ऐसा पलटा

खाया हो अथवा उन पर स्वतन्त्र उत्तम शिक्षा का प्रभाव पड़ा हो। इसके अतिरिक्त मतमतान्तरों में भी प्रायः ऐसे हैं कि जिनमें उत्तम, मध्यम, व निकृष्ट सभी प्रकार की बातें पाई जाती हैं। बहुत से पुरुषों के पूर्व जन्म के संस्कार इतने प्रबल होते हैं कि उन तक उनके मत की निकृष्ट बातों का प्रभाव कम पहुँचता है और उत्तम परिस्थिति पाकर वे उच्च कोटि के पुरुष बन जाते हैं, परन्तु यदि समूह रूप से किसी मत वा पंथ के अनुयायियों को जाँचिए तो वे अपने पूज्यादर्श के छोटे-छोटे नमूने अवश्य पाये जायँगे। नहीं, नहीं, यदि गूढ़ दृष्टि से देखा जाय तो वे इने-गिने महात्मा भी जिनको हम उनके मत के पूज्यादर्श से विलग पाते हैं कुछ-न-कुछ संस्कार पूर्वोक्त पूज्यादर्श के अवश्य रखते हैं। इसलिए यह निश्चित बात है कि व्यक्तिगत अथवा सामुदायिक जीवन निज मत के मन्तव्यों और निज पूज्य देव के गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर ही बना करता है, उसके विपरीत या उससे भिन्न नहीं, और मनुष्य के जैसे आचार-विचार और संस्कार होंगे वैसे ही उसकी गति होगी। इसी कारण वेदों में स्पष्ट रूप से कथन किया है। यजुर्वेद अध्याय ३१ मंत्र १८ को देखिए:—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

उस ज्ञानस्वरूप, अज्ञानान्धकार से परे महापुरुष परमात्मा को जानकर ही (अर्थात् उसका ज्ञान प्राप्त होने पर ही)

मनुष्य मुक्ति को प्राप्त हो सकता है। अन्य किसी भी प्रकार से नहीं। स्पष्ट रूप से वेद में भी ज्ञान ही श्रेय माना गया है। लोक में प्रसिद्ध है कि "ऋतेज्ञानान्न मुक्तिः" ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं।

ईश्वर का ज्ञान प्राप्त होने पर मोक्ष हुआ करती है इस विषय में किन्हीं-किन्हीं विद्वानों का यह मत है कि यह असम्भव है, क्योंकि ईश्वर अनन्त है और मनुष्य अल्पज्ञ है। अल्पज्ञ को अनन्त का ज्ञान होना ही असम्भव है—(Infinite is unknowable to finite being) और जब ईश्वर अज्ञेय है तो उसके ज्ञान-द्वारा मोक्ष की प्राप्ति असंभव है। दूसरे निराकार होने से ईश्वर किसी इन्द्रिय का विषय नहीं हो सकता, अतः मनुष्य को उसका ज्ञान होना ही असंभव है, क्योंकि मनुष्य के ज्ञान-प्राप्ति का साधन केवल उसकी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही हैं।

प्रथम युक्ति में हेत्वाभास स्पष्ट है। यदि यह कहा जावे कि अनन्त का सर्वांश में सम्यक् प्रकार का पूर्ण ज्ञान, अल्पज्ञ मनुष्य को नहीं हो सकता तब तो ठीक है, परन्तु यह कहना कि अल्पज्ञ होने के कारण किसी प्रकार का किसी अंश में मनुष्य को अनन्त का ज्ञान नहीं हो सकता, ठीक नहीं है वरन् प्रत्यक्ष के विपरीत है। यह संसार मनुष्य के लिए अपार है, किसी मनुष्य ने न आज तक इसका पारावार पाया और न भविष्य में पा सकता है। इसलिए इस संसार को

मनुष्य की अपेक्षा अनन्त कहा जावे ते अनुचित नहीं । परन्तु अनन्त होने के कारण यह संसार मनुष्य के लिए अज्ञेय नहीं। हमारी सारी सभ्यता, समस्त अभ्युदय और पदार्थ-विज्ञान, न्याय, मीमांसा, इत्यादि पर निर्भर है और ये सब विद्यायें सृष्टि-ज्ञान का दूसरा नाम हैं । आकाश तथा काल को मनुष्य की अपेक्षा अनन्त कहना अनुचित नहीं परन्तु काल व आकाश (अवकाश) के क्रियात्मक ज्ञान के बिना मनुष्य का कुछ भी काम नहीं चल सकता । सारी गणित-विद्या में इन्हीं दो का प्रयोग किया जाता है । खगोल-विद्या के मूलाधार भी यही हैं । इसलिए यह कथन कि अनन्त का ज्ञान अल्पज्ञ को नहीं हो सकता निर्मूल है । यदि यह कहा जावे कि पूर्ण ज्ञान के बिना अल्प ज्ञान का परिणाम भयानक होता है,

(A little learning is a dangerous thing,
Drink deep or taste not the Pierian spring.)

नीम हकीम ख़तरे जाँ, नीम मुल्ला ख़तरे ईमान—यह कहावत केवल कुछ अंश में लोकाचार के विचार से ठीक है, सर्वांश में नहीं । मनुष्य को तो सर्वाङ्ग, सर्वांश, सम्यक् ज्ञान एक त्रस-रेणु का भी नहीं हो सकता, परन्तु मनुष्य को सांसारिक अनेकानेक विषयों का ज्ञान प्राप्त है और हो रहा है, जो उसके व्यवहारार्थ उसकी आवश्यकताओं के पूरा करने के लिए पर्याप्त है और मनुष्य-जीवन को सफल बनाने के लिए आवश्यक है । यदि हम इस मत को मानकर कि अपार संसार का पारावार

मनुष्य नहीं पा सकता इसलिए सृष्टि-ज्ञान उसके लिए अप्राप्तव्य है, विद्योपार्जन छोड़ बैठें तो हमारी दशा पशुओं से भी निकृष्ट हो जावे और हम मनुष्य-कोटि से ही गिर जावें।

दूसरे यह कथन, कि ईश्वर इन्द्रियातीत है इसलिए मनुष्य को उसका ज्ञान नहीं हो सकता, भी ठीक नहीं। आँख, नाक, कान, जिह्वा व त्वचा-द्वारा क्रम से रूप, गन्ध, शब्द, रस, और स्पर्श का ज्ञान होता है और ये सब गुण हैं वस्तु नहीं। आम्र (आम) का उदाहरण लीजिए। आँख से हरा पीलापन, नाक से विशेष प्रकार की गन्ध इत्यादि गुणों का ज्ञान होता है, परन्तु रंग-रूप, रस-गन्ध इत्यादि में से एक अथवा सब मिलकर भी आम नहीं, ये तो केवल गुण हैं, वस्तु नहीं। अनुभव, अन्वेषण तथा अकथनीय क्रिया-द्वारा आत्मा को आम (वस्तु) का ज्ञान प्राप्त होता है और यह ज्ञान आम के परोक्ष होने पर भी बना रहता है, नष्ट नहीं होता। यदि कहा जावे कि वस्तु कोई पदार्थ नहीं, गुणों के समूह या संघट्ट का नाम ही वस्तु है तो यह कथन भी निर्मूल है, क्योंकि केवल गुणों का पृथक्-पृथक् अनुभव किसी को नहीं हो सकता। यह विचारातीत है कि केवल मीठापन, कालापन, पीलापन, इत्यादि गुणों का साक्षात् असम्भव है। दूसरे यह कि इन गुणों के संघट्ट का कारण क्या है? मीठापन, गन्ध, रूप, इत्यादि गुण क्यों मिल गये? इनके मिलने का साधन क्या है? मुफ़रद, वस्फ़, मुरक्कब

क्यों हुए—सारांश यह कि बिना वस्तु की कल्पना किये गुणों की कल्पना या अनुभव असम्भव है इसलिए यह मानना पड़ता है कि सारे गुण वस्तु के आश्रित हैं या यों कहिए कि गुण केवल वस्तु के रूपान्तर हैं। यदि कल्पना मात्र यह मान लिया जावे कि गुणों का संघट्ट ही वस्तु है अन्य कुछ नहीं तो प्रश्न उठता है कि गुण साकार हैं या निराकार? मानना पड़ेगा कि गुणों का कुछ आकार नहीं, मीठेपन का कोई रूप, रङ्ग, लम्बाई, चौड़ाई, मुटाई नहीं, कठोरता का कोई रूप, रस इत्यादि नहीं। सारांश यह कि संघट्ट से पृथक् हम किसी भी गुण को साकार नहीं कह सकते। गुण यदि साकार नहीं तो निराकार हैं, तब तो यह कथन स्वयं ही असिद्ध हो गया कि हमको निराकार का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। ईश्वर निराकार होते हुए भी आपके ही मन्तव्यानुसार अज्ञेय न रहा, क्योंकि निराकार गुणों को तो ज्ञेय मानते ही हो तब निराकार ईश्वर के ज्ञेय मानने में क्या आपत्ति।

कार्य से कारण और गुण से गुणी (वस्तु) का ज्ञान हुआ करता है। वह विश्वकर्मा इस अद्भुत सृष्टि का निमित्त कारण है। उसकी रचना से हमको उसके गुणों का बोध होता है। जब वैज्ञानिक वर्ग इस सृष्टि-रचना की उत्तरोत्तर खोज लगाते-लगाते बाष्पवाद और विकासवाद इत्यादि मन्तव्यों तक पहुँच जाते हैं तब उनको विदित होने लगता है कि केवल प्रकृति अपनी रचना करने में असमर्थ है। बाष्पवाद नहीं

बतला सकता कि बाष्प बनने का आरम्भ कब, कैसे और क्यों हुआ ? विकासवाद भी यह बतलाने में मूक है कि विकास का मूल कारण क्या है ? तब वैज्ञानिकों को यह मानना पड़ता है कि प्रकृति से परे कोई शक्ति अवश्य है जिसको हम पूर्णतया नहीं जान सकते । परन्तु यदि थोड़ा सा विचार को और बढ़ाया जाय तो यह बात स्वयं सिद्ध होती है कि प्रकृति अपनी आदि दशा में सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तु है । इसलिए जो शक्ति कि विकृत अवस्था से प्रकृत अवस्था में लाने के लिए सृष्टि-रचना के उपादान कारण को क्षोभित करती है उसका सर्वव्यापक होना आवश्यक है । सूक्ष्मातिसूक्ष्म, सर्वव्यापक-शक्ति, साकार कदापि नहीं हो सकती इसलिए सिद्ध होता है कि वह शक्ति सर्वव्यापक और निराकार है—यह सृष्टि अपार है, इसलिए प्रशंसिता शक्ति अपार से भी परे होना चाहिए! इसलिए वह शक्ति अनन्त भी है । इस संसार का पालन, पोषण, संहार सब नियमानुसार होना माना जाता है । जब हम विचार-पूर्वक देखते हैं तो संसार में महान् से महान् अनेक शक्तियाँ जल, वायु, विद्युत, आकर्षण, विकर्षण काम करती हुई प्रतीत होती हैं और यह सब शक्तियाँ किन्हीं न किन्हीं नियमों के अधीन पाई जाती हैं कि जिनको हम प्राकृतिक नियम कहते हैं । इन सर्व नियमों का निर्माता उनको शृङ्खलाबद्ध करनेवाला सिवाय प्रशंसिता शक्ति के अन्य कोई नहीं हो सकता । इसलिए

जिस शक्ति के अधीन सारी शक्तियाँ हैं उसको अवश्य सर्व-शक्तिमान् मानना पड़ेगा, इसलिए वह शक्ति निराकार, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् इत्यादि अनन्त और अलौकिक गुण-सम्पन्न है। इसी को जो मानते हैं उन्हीं को आस्तिक कहते हैं और आस्तिकगण उस शक्ति को ईश्वर, पूज्यदेव इत्यादि मानते हैं, इसलिए वह निराकार इन्द्रियातीत होते हुए भी अज्ञेय नहीं है।

वेदों में दोनों प्रकार के वाक्य पाये जाते हैं। एक ओर तो "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्" इत्यादि ऊपर लिखे मन्त्र-द्वारा हमको यह उपदेश किया जाता है कि बिना उस महती शक्ति के जाने हुए हम अपने अभीष्ट मोक्ष को कदापि प्राप्त नहीं हो सकते। दूसरी ओर वेद ही उसको नेति-नेति कहकर पुकारता है। यानी हम उसको नहीं जान सकते और भी कहा है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षु, सश्रृणोत्यकर्णः।
सवेत्ति वेद्यं नचतस्यास्ति वेत्ता, तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥१॥

(श्वेताश्वतर उपनिषद् अ० ३ मं० १९)

परमेश्वर के हाथ-पैर नहीं, परन्तु अपनी शक्ति रूप हाथ से सबका रचन व ग्रहण करता, पग नहीं परन्तु व्यापक होने से सबसे अधिक वेगवान् है। चक्षु का गोलक नहीं, परन्तु सबको यथावत् देखता, श्रोत्र (कान) नहीं तथापि सबकी बात सुनता, अन्तःकरण नहीं परन्तु सब जगत् को जानता

है और उसको अवधि-सहित जाननेवाला कोई भी नहीं। उसी को सनातन सबसे श्रेष्ठ और सबमें पूर्ण होने से पुरुष कहते हैं। वह इन्द्रियों और अन्तःकरण के बिना अपने सब काम अपने सामर्थ्य से करता है।

प्रागुक्त उपनिषद् वाक्य से स्पष्ट है कि यद्यपि मनुष्य ईश्वर के किसी गुण-कर्म का पारावार नहीं पा सकता तथापि मनुष्य ईश्वर-ज्ञान को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-प्राप्ति के लिए पर्याप्त रूप से प्राप्त कर सकता है। ईश्वर निराकार और जीव भी निराकार है। ईश्वर चैतन्य और जीव भी चैतन्य है। ईश्वर आनन्दस्वरूप, बन्धन-रहित है; जीव भी सानन्द है। इसलिए मोक्षावस्था में जीव को ईश्वर का साक्षात् होने में कोई आपत्ति नहीं है।

भक्ति

ज्ञान मनुष्य के लिए सांसरिक तथा पारमार्थिक सिद्धियों (अभ्युदय, निःश्रेयस्) की प्राप्ति का प्रत्यक्ष रूप से मुख्य कारण है और ज्ञान से ही वास्तविक भक्ति प्राप्त होती है। इतना दिखलाने के अनन्तर रहा यह विचार कि इन मंत्रों के अन्तर्गत कोई भक्ति-भाव-उत्पादक भी शब्द या वाक्य है अथवा नहीं। भक्ति-भाव-उत्तेजित करने के मुख्यतया दो कारण हुआ करते हैं। प्रथम तो जब हम किसी व्यक्ति या वस्तु में कोई अद्भुत कला, अद्भुत शक्ति अथवा कोई अन्य अद्भुत गुण देखते हैं तो हम चकित होकर उसके प्रेमभाव में आसक्त से हो जाते हैं। हमारा मन लुब्ध हो जाता है ऐसे दृश्य से हम पृथक् होना ही नहीं चाहते, मन उसमें स्थिर होकर रह जाता है। ऐसे दृश्यों के वर्णन से अघमर्षण मंत्र भरे पड़े हैं। जब हम इन मंत्रों के अर्थों को विस्तृत करते हैं और उनके भावों को विकास देते हैं अर्थात् उसमें जो सृष्टि तथा सृष्टि-रचना का वर्णन, उस पर भौतिक तथा मानसिक दृष्टि डालते हैं तो सारी सृष्टि-रचना उसके अद्भुत, अकथनीय चमत्कारों को देखकर हम मुग्ध हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों विचार करते जाते हैं महान् से महान् रचनाएँ, अद्भुत से अद्भुत दृश्य हमको चकाचौंध कर देते हैं और विशाल पर्वत कोसों तक सफ़ेद चमकते हुए बर्फ़ से ढके

हुए दिखलाई देते हैं मानो शीशे के पहाड़ विद्यमान हैं। सूर्य्यनारायण, जिनकी दहनशक्ति का पारावार नहीं, पृथ्वी से नौ लाख गुणा बड़ा जलती हुई अग्नि का गोला इस जमे हुए पानी को सुखा नहीं सकता वरन् उसकी तीव्र रश्मियाँ हिमालय पर्वत के हिम से ढकी हुई चोटियों के साथ किलोल करती हुई अद्भुत दृश्य पैदा करती हैं। हिमराज से मित्रता रखने के लिए उन्होंने मानो अपने विरोधी गुण उष्णता को त्याग दिया है। इसके विपरीत राजपूताना, अरब, अफ़रीका के रेतीले मैदानों को यही रश्मियाँ आग-बबूला बना रही हैं। कहीं विस्तृत से विस्तृत समुद्र हैं जिनकी महीनों यात्रा कीजिए कहीं पारावार नहीं। यात्रा करते हुए ऐसा विचार होता है मानो सारी पृथ्वी पर अगाध जल ही जल है, कहीं थल का नाम नहीं। जिनके मीलों गहिरे जल के भीतर इतने बड़े मगर-मच्छ विचरते हैं जिनको देखकर कभी-कभी जहाज़ वालों को टापू होने का धोखा हो जाता है। ये रहे पृथ्वी पर के दृश्य वरन् उस सर्वशक्तिमान् की अपार सृष्टि की अपेक्षा (जिसकी रचना का वर्णन इन मंत्रों में आया है) हमारी पृथ्वी बेचारी, जिसकी परिधि २४००० मील की है, किस गणना में है। यह सूर्य्यलोक जो हमको थाली के तुल्य मालूम पड़ता है पृथ्वी से इतना बड़ा है कि उसके मुक़ाबिले में यह बड़े मटके के सामने एक राई के दाने के समान है। खगोल-वेत्ता हमको बतलाते हैं कि इस सृष्टि में ऐसे-ऐसे सूर्य्य विद्यमान हैं जो

हमारे सूर्य्य देवता से सहस्रों गुने बड़े हैं। कदाचित् जिस प्रकार हमारे सूर्य्य-मण्डल के ग्रह-उपग्रह हमारे सूर्य्य के आस-पास घूमते हैं उसी प्रकार हमारा सूर्य्य-मंडल, किसी अन्य महासूर्य्य की परिक्रमा कर रहा है। पृथ्वी चौबीस घंटे में एक बार अपनी परिधि पर २४ हज़ार मील प्रति दिन घूम जाती है और सहस्रों मील आगे को बढ़ती जाती है परन्तु हमको कुछ भी इस यात्रा का भान नहीं होता। जैसे हमारा चन्द्रमा पृथ्वी के आसपास घूम रहा है उसी प्रकार शनैश्चर के चारों ओर कई चन्द्रमों की माला घूमा करती है और ये सब ग्रह पृथ्वी, शनि, इत्यादि सूर्य्य देवता के आसपास अपने उपग्रहों सहित घूमा करते हैं। ये सारे के सारे लोक-लोकान्तर विचित्र नियम-शृङ्खला में बँधे हुए अपनी-अपनी गति, उपगति, प्रतिगति से एक इंच हट नहीं सकते। पृथ्वी चौबीस घंटे में एक बार अपनी परिधि पर बंगी की तरह ३६५ दिन ६ घंटे १० मिनट ९ सेकिंड में सूर्य्य के आस-पास सृष्टि के आदि से घूम रही है। प्रकाश १ सेकिंड में १८३००० मील की गति से चलता है परन्तु इस अपार सृष्टि में ऐसे सूर्य्य विद्यमान हैं कि जिनका प्रकाश इस वेग के साथ चलता हुआ भी अभी हमारी पृथ्वी तक नहीं पहुँचा। इन बातों को देख और विचारकर मन चकित हो जाता है। यद्यपि वह (मन) प्रकाश से भी शीघ्रगामी है तथापि इस संसार की रचना का पार पाने से थकित होकर बैठ जाता है और "तपसोऽध्यजायत" का बार-बार पाठ करते हुए उस

सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता, सर्वाधार के अलौकिक शक्तियों का, जिनसे यह संसार रचा गया है, चिन्तन करते हुए मुग्ध हो जाता है और अन्त में बार-बार यही कहता है—"अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाय नहिं बरनी।"

दूसरे जब हम किसी को अपने प्रति उपकार करते हुए पाते हैं तो हमारे हृदय में उसके प्रति कृतज्ञता का भाव उत्पन्न होता है। जितना-जितना उसका उपकार हमारे प्रति बढ़ता जाता है उतना ही उतना हमारा प्रेम-भाव उपकार-कर्त्ता के प्रति उमगता चला जाता है और यदि यह उपकार बिना किसी प्रकार के प्रत्युपकार की आकांक्षा के होता है तब तो हमारे प्रेम-भाव तथा कृतज्ञता की सीमा नहीं रहती। यह नियम हम कुत्ते आदि पशुओं में भी पाते हैं। जब किसी सेवक को अपने स्वामी की सेवा में अधिक समय व्यतीत हो जाता है और उसका स्वामी उस पर तथा उसके कुटुम्ब पर अपनी विशेष दयालुता दिखलाता रहता है तो अन्त में सेवक का प्रेम बढ़ते-बढ़ते उसका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध अपने स्वामी से हो जाता है कि दास-भाव के विचार छूट जाते और पिता-पुत्र के समान भाव उत्पन्न हो जाते हैं। सेवक, स्वामी के परिवार को अपना परिवार समझने लगता है। स्वामी के दुःख से दुःखी और उसके सुख से सुखी रहता है और स्वामी के प्रति आत्मसमर्पण को उद्यत रहा करता है।

जब हम अघमर्षण के मंत्रों में "विश्वस्य मिषतो वशी" का पाठ

करते हैं और फिर उस सर्वेश्वर के सुराज्य-प्रबन्ध की ओर दृष्टिपात करते हैं तो प्रत्यक्ष देखते हैं कि सूर्य्य देवता उस विश्वकर्मा के "ऋतं" अलौकिक ज्ञान तथा उसकी महती दयालुता का एक ज्वलन्त उदाहरण हैं। इन्हीं की प्रखर रश्मियाँ इस पृथ्वी पर सब जीवधारियों की जीवनाधार हैं। यदि इनकी उष्णता हमसे हटा ली जावे तो किसी जीवधारी, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि का जीवित रहना असम्भव हो जावे। ग्रीष्म ऋतु में एक ओर इन्हीं की तपन-द्वारा भूमि में उपजाऊ शक्ति की वृद्धि होती है। दूसरी ओर उसी तपन के कारण बहुत सी प्रचण्ड वायु आँधी का रूप धारण करके अनेकानेक रोगों के कारणों को नष्ट कर देती है और इस प्रकार हमारी स्वास्थ्य-रक्षा (Sanitation) का काम देती है। साथ ही साथ इस तपन को बुझाने के लिए और सारी सूखी भूमि को फिर से हरी-भरी बनाने के लिए इन्हीं रश्मियों की उष्णता से समुद्रादि से बाष्प (भाफ़) उत्पन्न होकर मेघमंडल में वर्षा ऋतु की सामग्री एकत्र कर देती है। ग्रीष्म का अन्त हुआ कि बर्षा ऋतु का आरम्भ हुआ। सारी पृथ्वी शीतल जल की वर्षा से तृप्त होकर हरी-भरी दृष्टि आने लगती है। फिर इन्हीं रश्मियों के ढाल में परिवर्त्तन आरम्भ हुआ और शरद ऋतु का आगमन होने लगा। वर्षा ऋतु ने जो श्लेष्मा की मात्रा हममें बढ़ा दी थी वह शनैः-शनैः घटने लगी और हमारी जठराग्नि का प्रदीप्त होना आरम्भ हो गया। मानो वर्षा से उत्पन्न

हुए वा होनेवाले खाद्य पदार्थों के भोगने के लिए हमको शक्ति प्रदान की जा रही है। सब देशों और ऋतुओं में देश-कालानुसार खाद्य तथा अन्य उपयोगी पदार्थ उत्पन्न हुआ करते हैं; जिस हिम से कहीं-कहीं कृषि का सर्वनाश हो जाता है वही हिम-रूपान्तर बर्फ़ीले मुल्कों में कृषि को उपजाऊ बनाता है, उसका पालन-पोषण करता है। दूर क्यों जाइए, यह शरीर तथा शरीरस्थ जठराग्नि भी तो उसी विश्वकर्मा की प्रदान की हुई है। क्या हमारे माता-पिता को यह भी पता था कि यह शरीर और शरीरस्थ जठराग्नि कैसे, किससे, कब तथा किस प्रकार बनी। माता तक को तो ज्ञात ही नहीं कि उत्पन्न होनेवाले बालक के लिए उसके स्तनों में दुग्ध कब और कहाँ से आया! क्या उनको कुछ भी बोध था कि बच्चे के उदर के भीतर वह यन्त्र जो फल-फूल तथा अन्नादि खाद्य-पदार्थों को पचाकर सुरस उत्पन्न कर सर्वोपकारी रुधिर बना देता है और जिसको मेदा कहते हैं किस प्रकार बना? क्या पृथ्वी माता को कुछ भी बोध है कि उसमें उपजाऊ शक्ति कब और कहाँ से आई? क्या वह स्वयं अपनी परिधि तथा सूर्य के आसपास इसलिए भ्रमण करती है कि रात्रि-दिवस तथा विविध ऋतु उत्पन्न करे? क्या सूर्य्य देवता को यह ख़बर है कि वे किस लिए तप रहे हैं और उनमें आकर्षण-शक्ति कहाँ से आई? यह तो सबके सब जड़ पदार्थ हैं, उनको क्या ख़बर! यह सारा संघात संगठन

उसी सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता, सर्वाधार का है, जिसका वर्णन प्रथम मंत्र "ऋतञ्च" इत्यादि में आया है और अन्तिम मन्त्र "सूर्य्याचन्द्रमसौधाता" में बतलाया है कि सूर्य्य, चन्द्र आदि लोक-लोकान्तर उसी के रचे हुए हैं। "विश्वस्यमिषतोवशी" से यह भी दिखला दिया है कि यह सारा विश्व उसी के सुप्रबन्ध में है और उसी के सुराज्य में सारे जीव अपने-अपने कर्मानुसार फल भोग रहे हैं और उसी नियामक के नियमानुसार मनुष्य को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पाने के अधिकार मिले हैं, सर्वस्व उसी का है। उसके इस कृपा-कटाक्ष के बदले न हम कोई प्रत्युपकार उसका कर सकते हैं और न उसको किसी प्रत्युपकार की किसी रूप में भी आवश्यकता या इच्छा है। उसमें तो इच्छा ही नहीं; वह तो केवल ईक्षणमात्र से कार्य सम्पन्न कर रहा है।

जब हम इन मंत्रों को पढ़ते हुए उनके अर्थों के विचार-सम्बन्ध में उस दयामय की इन सब निःस्वार्थ उदारता की ओर दृष्टि डालते हैं तो हमारे हृदय में उसके प्रति प्रेम-भाव की लहरें उमड़ने लगती हैं। शनैः शनैः यह प्रेम-भाव बढ़ते-बढ़ते भक्ति-भाव की पराकाष्ठा को पहुँच जाता है। तब हमारा मन ईश्वर में इतना एकाग्र हो जाता है मानो हम अपने आपको भूल जाते हैं और इस दशा को योगी जनों की समाधि-अवस्था कहते हैं। कदाचित् इसी अवस्था को "तत्त्वमसि" अथवा "अनलहक़" انالحق कहा हो। पूर्वदर्शित कथन

से स्पष्ट सिद्ध होता है कि ज्ञान ही द्वारा अनन्य भक्ति उत्पन्न होती है; वही वास्तविक भक्ति है। ज्ञान-शून्य भक्ति मोह-जाल का रूपान्तर है। उससे मनुष्य का अभीष्ट कदापि सिद्ध नहीं हो सकता और सर्वश्रेष्ठता और दयालुता जो दो हेतु भक्ति-भाव उत्पादक हैं उनका रहस्य इन मंत्रों में भली भाँति दर्शाया गया है।

अघमर्षण मन्त्रों के विषय में वेदों का प्रमाण

प्राचीन समय में जब वेदों का इतना विशेष प्रचार था कि बिना साङ्गोपाङ्ग कम से कम एक वेद पढ़े कोई मनुष्य द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की पदवी को प्राप्त नहीं हो सकता था, जब वेदों की व्याख्यारूप शाखाएँ वर्त्तमान थीं, दार्शनिक लोगों की यह मर्य्यादा थी कि बिना वेद की प्रतीक अथवा प्रमाण दिये किसी विषय को सम्पूर्ण और सर्वमान्य नहीं समझते थे। वेदों को सर्वविद्या मूलक मानते थे, परन्तु समय के परिवर्तन से वैदिक साहित्य तथा वेदविद्या का ह्रास हो गया। इतना ही नहीं वरन् वेदों के नाम पर इतनी अनर्गल बातें प्रचार पा गईं कि उनके अर्थों के अनर्थ हो गये। वर्त्तमान समय के स्कूलों के पाठ्य-पुस्तकों में वेदों के निन्दास्पद पृष्ठ के पृष्ठ रँग दिये गये। इस समय में लोगों को यह विश्वास दिलाना कि वेद ईश्वरीय ज्ञान अथवा तत्त्व-ज्ञान के भण्डार हैं और उच्च से उच्च भाव-सम्पन्न हैं, बड़ा ही कठिन हो गया है। जिस समय ऋषि दयानन्द सरस्वतीजी ने इस भाव का पुनरुद्धार करना आरम्भ किया तो अन्य मतावलम्बियों का तो कहना ही क्या, हमारे वैदिक धर्म के माननेवाले हिन्दू भाई इसको हास्यास्पद विचार (ridiculous idea) समझकर मुँह बिदुराते थे। ईश्वर की कृपा और सत्य के प्रभाव से उस ऋषि को अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता

प्राप्त हुई और अब न केवल वैदिक धर्मावलम्बी वरन् बहुत से अन्य मतावलम्बी भी इसके मानने में संकोच नहीं करते कि वेदों में सर्वोच्च विचार विद्यमान हैं, विशेष कर ब्रह्मविद्या के विषय में। परन्तु अब भी लोगों को भ्रम हो जाता है कि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने अर्वाचीन समय के विद्याप्रकाश-युक्त विचारों को लेकर नाममात्र वेदों की प्रतीक देकर वेद-मत के प्रचार का प्रयत्न किया है या यों कहिए कि वेदों के मूल पर (नवीन) विद्या का प्रकाश तथा नवीन सभ्यता की क़लम चढ़ाई है और इसी कारण उन्होंने इस रोशनी के ज़माने में ऐसे वेद-मन्त्रों को जिनमें कुछ सृष्टि-रचना का क्रमशः वर्णन पाया जाता है अघमर्षण शीर्षक देकर अपनी बनाई हुई पञ्च महायज्ञ-विधि में लिख दिये हैं। उनका विशेष प्रयोजन यह था कि पाश्चात्य-शिक्षा-प्रणाली के विद्वानों को सन्ध्योपासन रुचिकर हो जावे और इस प्रकार नित्य कर्म का कुछ प्रचार हो जावे और वेदों में लोगों की श्रद्धा बढ़े। यदि वास्तव में ऐसा ही होता तब भी कोई हानि न थी वरन् श्रीस्वामीजी महाराज की बुद्धिमत्ता थी। उन्होंने देशकालानुसार कार्य किया और देशकालानुसार कार्य करना प्रायः स्मृतिकारों ने विधिवाक्य लिखा है। परन्तु वे वेदों के अनन्य भक्त थे। उन्होंने आर्यसमाज के तीसरे नियम में स्पष्ट लिखा है कि "वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है" और वे वेदों को स्वतः प्रमाण मानते थे। उसके लिए उनको किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता न थी। वेदों को नित्य

और उनके विधिवाक्य, ईश्वर-रचित प्राकृतिक पदार्थ सूर्य्य, चन्द्र, जल, वायु की भाँति त्रिकाल के लिए उपयोगी समझते थे। लोकैषणादि तो उनके पास होकर भी नहीं फटकती थीं। वह केवल वैदिक धर्म के रंग में सारे संसार को रँगना चाहते थे। शेष सारी बातों को चाहे वे पूर्वीय अथवा पाश्चात्य सभ्यता की हों परतः प्रमाण मानते थे। यही कारण है कि उन्होंने ईसाई मत (जो नई रोशनी के जन्मदाताओं का मत है) के खंडन में कुछ भी संकोच नहीं किया। नास्तिकवाद (जो नई रोशनी का एक दृढ़ दुर्ग समझा जाता है) के खण्डन को अपना मुख्य कर्त्तव्य समझा। उनके रचित ग्रन्थों में उनको अपने पक्ष के मंडन में नई रोशनी या पाश्चात्य सभ्यता का सहारा लेते हुए आप न पावेंगे, इसलिए पोलिसीबाज़ो का विचार उनके प्रति सर्वथा अनुचित है।

श्रीस्वामीजी महाराज के विषय में मिस्टर जी० ए० चन्द्रावरकर, बी० ए० (Mr. G. A. Chandravarkar, B. A.) लिखते हैं—

"He was not the product of occidental learning. He was blissfully ignorant of the English language which made Ram Mohan Rai, Keshab Chandra Sen and Vivekanand what they were. He drew his inspirations directly from the Vedic literature." (*Vide* Vedic Magazine, Vol. XXI No. 6/101.)

वह (स्वामीजी) नवीन शिक्षा के फल न थे। वह सौभाग्यवश अगरेज़ी भाषा से अनभिज्ञ थे कि जिसकी बदौलत राम मोहनराय, केशवचन्द्र सेन तथा विवेकानन्द अपने-अपने पद को प्राप्त हुए। उनके (स्वामीजी के) भाव केवल वैदिक साहित्य से प्रभावित थे।

अघमर्षण के मन्त्र कुछ ऋषि दयानन्द ने ही अपनी रचित पञ्च महायज्ञ-विधि में नहीं रक्खे, वरन् अन्य नित्य-कर्म पद्धतियों में भी पाये जाते हैं।

"यजुर्वेदीय सन्ध्या प्रयोगः" नाम की एक पुस्तक इस समय मेरे सम्मुख उपस्थित है। उसके पृष्ठ ९ पर भी यही अघमर्षण के मन्त्र दिये हुए हैं। यह पुस्तक किसी आर्यसमाजी की बनाई हुई नहीं है।

इसके अतिरिक्त प्रागुक्त मन्त्र ऋग्वेद संहिता के हैं; इनका ऋषि अघमर्षण और देवता भाववृत्त दिया है। (देखो, ऋग्वेद संहिता, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर मुद्रित, सं० १९५८ पृ० ६५८)। उक्त सन्ध्या प्रयोग नामक पुस्तक में भी अघमर्षण के मन्त्रों का शीर्षक निम्नलिखित दिया है—ओं अघमर्षण सूक्तस्याघमर्षण ऋषिरनुष्टुप् छन्दः भाववृत्तो देवता अश्वमेधावभृथे विनियोगः- ऋषि शब्द का अर्थ है साक्षात् करनेवाला—"ऋषयो मन्त्र-दृष्टयः" निरुक्त १।२०। तथा सत्यार्थ प्रकाश पृ० २१४ सं० १९६१।

प्रत्येक वेद-मन्त्र के साथ उसका ऋषि और देवता हुआ करता है। देवता विषय-सूचक है अर्थात् जिस विषय का विशेष

रूप से वर्णन जिस या जिन मन्त्रों में आया है वही उनका देवता है। ऋषि प्रयोजन-सूचक पदवी है। मन्त्र के साथ जो ऋषि आता है उसके दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि जिस-जिस मन्त्रार्थ का दर्शन जिस-जिस ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिसके पहिले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था इसलिए अद्यावधि उस मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणार्थ हुआ करता है। दूसरा अर्थ यह है कि जिस-जिस मंत्र के साथ जो-जो ऋषि आया है वह सार्थक, प्रयोजन-सूचक और पदवीमात्र है। ऐतिहासिक नहीं, जब-जब जिस या जिन ऋषियों को जिस या जिन मन्त्रों के विषय का विज्ञान तथा क्रियात्मक रूप से साक्षात् होता है और वह उसका विशेष रूप से प्रचार व उपदेश अन्यों को करता है या किया उस या उन ऋषियों के लिए यह पदवी होना चाहिए; जैसे लोकाचार में नैयायिक, विद्यालङ्कार, महामहोपाध्याय इत्यादि पदवी दी जाती हैं।

पदवी-सूचक अर्थ लेने से ऋषि का प्रयोग सदैव से उन-उन वेद-मन्त्रों के साथ होना सम्भव है। जैसे देवता विषय-सूचक है और सदैव से वेद-मन्त्रों के साथ है इसी प्रकार प्रयोजन सूचक पदवी-वाचक अर्थ लेने से ऋषि का प्रयोग भी मन्त्र के साथ सदैव से ही होगा, ऐतिहासिक नहीं रहेगा; अन्यथा मानना होगा कि समय-समय पर विविध वेद-मन्त्रों के साथ विशेष-विशेष ऋषियों का प्रयोग कालान्तर मे हुआ, तब

ऋषि, देवता, छन्द इत्यादि के समान अनादि न रहेगा। इस विषय के विस्तार-पूर्वक विचार की इस स्थान पर आवश्यकता नहीं, क्योंकि यहाँ पूर्वोक्त दो भावों में से कोई भी भाव ऋषि शब्द का लिया जावे, अभिप्राय स्पष्ट है कि इन प्रागुक्त तीन मन्त्रों का साक्षात् जिस ऋषि को हुआ अथवा होता है और जिसने उनका क्रियात्मक रूप से अनुभव किया वा करता है वह सदैव अघमर्षण नाम पदवी से प्रख्यात हुआ वा होता है। अघमर्षण शब्द का अर्थ और उसकी व्याख्या इस पुस्तक के आरम्भ में की जा चुकी है। अघमर्षण का अभिप्राय पापों का दूर करना (उनसे छुटकारा पाना) है और इसी लिए जिस या जिन ऋषियों ने इन मन्त्रों को साक्षात् कर संसार को उससे लाभ पहुँचाया उनकी पदवी ही अघमर्षण हुई।

इन मन्त्रों का देवता अर्थात् विषय भाववृत है कि जिससे स्पष्ट विदित है कि इन मन्त्रों के मनन, निदिध्यासन, और अर्थ-विचार का मुख्यादेश मनुष्य के भावों की वृत्ति को ज्ञान के प्रकाश से उच्च व पवित्र बनाना है। इस प्रकार मनुष्य-जीवन का सुफल करना है। मत्रों के अर्थ, भावार्थ और उनमें कथित वैज्ञानिक, मीमांसक बातों पर विचार करने से मनुष्य किस प्रकार ज्ञान की पराकाष्ठा को पहुँच जाता है इसका वर्णन ऊपर आ चुका है। भाव ही व्यक्ति-जीवन तथा सामाजिक जीवन का आधार और उनके उद्धार का मुख्य कारण है। यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। एक यूरोपियन विद्वान् का कथन

है कि (Ideas govern the world) भाव ही संसार को वशीभूत कर रहे हैं। यह सिद्धान्त अटल है, क्योंकि जैसे हमारे भाव होंगे वैसे ही मानसिक, कायिक, और वाचिक कर्म होंगे। कर्माधीन यह संसार है—"कर्म प्रधान विश्व रचि राखा"।

इससे प्रकट है कि स्वयं वेदों का प्रमाण इस विषय में मिलता है कि वास्तव में यह मन्त्र अघमर्षण के हैं। इसी लिए ऋषियों ने संध्योपासन में उनका प्रयोग किया है, जिससे मानसिक विकास-द्वारा मनुष्य आत्मिकोन्नति को उपलब्ध कर सके और यही अघमर्षण का अभिप्राय है।

किन्हीं-किन्हीं का यह विचार है कि जब हमने एक बार इन मन्त्रों के अर्थों को समझकर उनका भावार्थ हृदयांकित कर लिया तो फिर रोज़-रोज़ दोनों समय उनका पाठ करना व्यर्थ है यह प्रश्न न केवल इन्हीं मन्त्रों के विषय में वरन् सन्ध्या के विषय में भी किया जाता है।

यदि कुछ भी विचार इस प्रश्न पर किया जाय तो प्रश्न निर्मूल ज्ञात होगा। जिस सृष्टि-रचना तथा उसका क्रम का अनादित्व, लोक-लोकान्तरों का दिव्य दृश्य, ईश्वरीय व्यवस्था, आदेश, तथा विभव इत्यादि-इत्यादि का जो वर्णन इन मन्त्रों में आया उसका समझ लेना कहना ही बेसमझी है। उनमें जो अनेक विषयों का वर्णन आता है उनमें से किसी एक विषय को ले लीजिए; उसी के मनन और विचार में सारा जन्म व्यतीत हो

जायगा और ज्यों-ज्यों अधिक मनन व विचार करते जाइए नवीन-नवीन आविष्कार, अद्भुत दृश्य, प्रतीत होते जायँगे और उसकी महिमा का परमानन्द-दायक विचित्र चित्र हृदयङ्गत होता जावेगा और मनोविकास बढ़ता जायगा,—दूसरे हमारा मन एक क्षण भी स्थिर नहीं। उसकी गति या तो विषय-वासना की ओर होगी या आत्म-प्रकाश की ओर अर्थात् ईश्वर की ओर होगी। इन दो गतियों में से जिस ओर खींचनेवाली शक्ति प्रबल पड़ेगी वही जीवन का परिणाम होगा। या तो हम विषयी बन जावेंगे या मनोविकास-द्वारा सदाचारी, महात्मा परम पद के अधिकारी होवेंगे। हमारा जीवन रात-दिन सांसारिक, व्यावहारिक लोभन-प्रलोभन में पड़ा हुआ आठ पहर चौंसठ घड़ी विषय-वासना की ओर खिंचा करता है और हमारा हृदय उनसे प्रभावित होता रहता है। यदि हम इसकी निवृत्ति के लिए सायं-प्रातः एक-एक, दो-दो घड़ी भी नहीं दे सकते, मनोभावों को ऊँचा बनाने, हृदय को पूर्वोक्त कथित मल से पवित्र करने के उपाय में नहीं लग सकते तो परिणाम यही होगा कि हमारा आत्मा मलिन होकर अधोगति को अवश्य प्राप्त होगा। तीसरे बिना अभ्यास किये हुए कोई भी वस्तु हस्तामलक नहीं होती, और जब अभ्यास छूट जाता है तब हम कोरे के कोरे रह जाते हैं। जो प्रख्यात व्याकरण के पण्डित हैं वे नित्यप्रति अष्टाध्यायी के सूत्रों का पाठ किया करते; जिन्होंने कालिजों में गणित, सायन्स आदि में बड़ी-बड़ी पदवियाँ पाई

और जिनको वे विषय हस्तामलक थे, जब उनको नौकरी या वकालत करने पर उन विषयों से काम न रहा तो वे उनके साधारण गुर (ordinary formulæ) तक भूल जाते हैं। सारांश यह है कि बिना अभ्यास न कारीगर को किसी वस्तु के बनाने की कुशलता रहती है और न योगी को योगाभ्यास की। बिना ईश्वर-परायणता के तारतम्य स्थिर नहीं रहता। इस कारण दक्षता की प्राप्ति और उसको चिरस्थायी रखने के लिए अभ्यास का होना अनिवार्य है।

उपोद्घात

"अघमर्षण" के मंत्रों के अर्थ, भावार्थ का मुख्य आदेश मनुष्य के भावों को ज्ञान-द्वारा उच्च व पवित्र बनाना और धर्म में निश्चल विश्वास उत्पन्न करना है। परन्तु उसके साथ ही साथ रजोगुणी तथा तमोगुणी भावों के दूर करने के लिए उसके राज-प्रबन्ध की ओर बलपूर्वक संकेत किया है कि इस चेतावनी से सदाचार की ओर प्रवृत्ति और दुराचार से निवृत्ति हो। उसकी अद्भुत ज्ञान, क्रिया और बल का वर्णन करते हुए उसकी कृपा-कटाक्ष का भी संकेत किया है।

सृष्टि-रचना के अलौकिक चित्र को खींचते हुए यह भी दिखलाया है कि सूर्य्य, पृथ्वी इत्यादि लोकों को उत्पन्न करनेवाला वही है जो हमारा जीवनहेतु और प्राणाधार है और जिस पर हमारे सारे सुखों की सामग्री निर्भर है। जिससे मनुष्य के हृदय में उस परमात्मा की ओर कृतज्ञता व अनन्य भक्ति का भाव उत्पन्न होता है। साथ ही साथ यह भी भाव प्रकट होता है कि धर्मभाव, आस्तिकता, ईश्वर-परायणता वैज्ञानिक है, कपोल-कल्पित नहीं। ईश्वर शुद्ध, बुद्ध, नित्य, पवित्र, सर्वज्ञ, और सर्वशक्तिमान् है। उसका और जीवों का राजा-

प्रजा का सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध सदा से है और सदा रहेगा।

सारांश यह कि "अघमर्षण" के मन्त्रों का महत्त्व कथन से बाहर है। जितना ही अधिक उनके मन्त्रार्थ व भावार्थ पर गूढ़ विचार किया जावे, थोड़ा है। उनके नित्य जाप और मनन से मनोविकास की वृद्धि और उच्चभाव उत्पन्न होते हैं। ईश्वरीय महिमा और उसकी राज-व्यवस्था का चित्र हृदयांकित होता जाता है, जिसके प्रभाव से पापाचरण मनुष्य से ऐसे दूर भागते हैं जैसे सूर्य्य नारायण के उदय से अन्धकार हटता है और हृदय पवित्रता को प्राप्त होता जाता है। फिर इस पवि हृदयरूपी भूमि में धर्मरूपी सुन्दर मन्दिर विज्ञान की चट्टान पर ऐसा दृढ़ बनता है कि वहाँ ईश्वर-परायणता निश्चल रूप से निवास करती है। जिस मन्दिर को काम, क्रोध, मद, मत्सर के प्रचण्ड वायु का भय नहीं है और न अनीश्वरवाद की घनघोर घटाओं की मूसला-धार वर्षा का ही कुछ डर है और न वितंडावाद की कड़कड़ाहट ही कानों को सताती है और न विकासवाद आदि नवीन-नवीन वैज्ञानिक मन्तव्यों की दमकती हुई दामिनी हृदय-चक्षु को चकाचौंध कर सकती है। "अघमर्षण" के मंत्रों को यथेष्ट रूप से आराधन, मनन करनेवाला पुरुष, अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों सिद्धियों को प्राप्त कर परमात्मा की गोद में मोक्षानन्द को प्राप्त होता है—

"ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले, परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे"।

(मुण्डकोपनिषद् ३, ख० २, मं० ६)

वे मुक्तजीव, मुक्ति को प्राप्त होके ब्रह्म में आनन्द को नियत समय तक भोग कर, पुनः महाकल्प के पश्चात् (मुक्ति को छोड़कर) संसार में आते हैं।